UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 9 अङ्क 2

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, 2020

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 9 अङ्क 2

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

February, 2020

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	
शोधलेख			
1.	श्रीविद्या का रहस्य	अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज	1–10
2.	उपचार मीमांसा की भूमिका	ब्रह्मलीन प्रो. विद्यानिवास मिश्र	11–24
3.	वैदिक विज्ञान के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप विमर्श	आचार्य गुलाब कोठारी	25–33
4.	मूर्धन्य तन्त्रशास्त्री शिवानन्द गोस्वामी	महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री	34–39
5.	आगमोक्त गुरुस्तोत्र विमर्श	डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	40–48
6.	शब्दब्रह्म एवं उसकी शक्तियों का दार्शनिक विमर्श	कीर्तिका भट्टाचार्य	49–57
7.	आश्वमेधिक पर्व में ब्रह्माजी का सांख्य शास्त्रीय उपदेश	समीर कुमार	58–61

8.	श्रीकरपात्रस्वामिमते श्रीमद्भगवद्गीतायां अद्वैततत्त्वविमर्श:	प्रो. उमारानी त्रिपाठी	62-71
9.	वैखानसागमे मन्त्रविमर्श:	प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेयः	72-75
10.	तन्त्रागमस्वरूपवर्णनम्	योगेशप्रसादपाण्डेयः	76-79
11.	वेदागमयोस्सम्बन्धविचारः	दीपक पालीवालः	80-84
12.	प्रत्यभिज्ञादर्शने षट्त्रिंशत्तत्त्वानि	भास्कराय:	85-88
13.	Yoga: Ancient Indian Philosophy to Practical Life of Common Man	Dr. Sushim Dubey	89-97
14.	Lalita abides in the Heart	Dr. Chaman Lal Raina	98-104

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है। इस अङ्क के प्रथम आलेख में अनन्तश्रीविभूषित परमगुरु स्वामी करपात्री जी के द्वारा लिखित 'श्रीविद्या का रहस्य' संकलित किया गया है। यह आलेख सन्मार्ग के तन्त्र विशेषाङ्क में श्री नन्दनन्दनानन्द सरस्वती जी के द्वारा प्रस्तुत किया गया। अब ये दोनों विभूतियाँ ब्रह्मलीन हो गई है। इसमें श्रीविद्या के दुर्गम एवं गूढ रहस्यों की व्याख्या की गई है। ग्रन्थि भेदन का रहस्य भी सुस्पष्ट किया गया है। श्रीयन्त्र तथा षोडशी मन्त्र की अक्षर ब्रह्ममयी गूढ व्याख्या साधकों के अवबोधार्थ प्रस्तुत है। इस उत्तम लेख के लिए शतश: प्रणाम।

द्वितीय आलेख ब्रह्मलीन प्रो. विद्यानिवास मिश्र के द्वारा *उपचार मीमांसा* की भूमिका के रूप में लिखा गया था। इस आलेख में उपचार मीमांसा के गूढ रहस्यों को अनावृत्त किया गया है तथा उपासकों के लक्ष्यों को सुस्पष्ट किया गया है। यह लेख विस्तृत है तथा उपासनों के उपचारों की सार्थकता का सयुक्तिक प्रतिपादन करता है। श्रीविद्या के साधकों के लिए अवश्य मननीय है।

तृतीय आलेख 'वैदिक विज्ञान के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप विमर्श' में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी गुलाब कोठारी ने ब्रह्म के स्वरूप का श्रुति के आधार पर विवेचन किया है। ब्रह्म की प्रतिष्ठात्रय को वैदिक विज्ञान के आधार पर विवेचित किया है। मन के अव्यय रूप को श्वोवसीयस ब्रह्म सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है। यहाँ पं. मधुसूदन ओझा की वैज्ञानिक व्याख्या के आधारों को परखने का कार्य सम्पन्न हुआ है। अत: सादर प्रणाम एवं अभिनन्दन।

चतुर्थ आलेख में महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने मूर्धन्य तन्त्रशास्त्री शिवानन्द गोस्वामी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विवरण साररूप में दिया है जो इनके महत्त्व को रेखांकित करता है। अत: सादर प्रणाम।

पञ्चम आलेख 'आगमोक्त गुरुस्तोत्र विमर्श' में ब्रह्ममुहूर्त में पठनीय आगमोक्त गुरु स्तोत्रों का भावार्थ साधकों के अवबोधार्थ समुपस्थापित किया गया है। ये स्तोत्र तन्त्रसाधकों की साधना के लिए अनुपम साधन है। इन स्तोत्रों के अर्थज्ञान से साधक अपनी अन्तर्याग साधना को विधिवद् अनुष्ठित कर सकता है।

षष्ठ आलेख 'शब्दब्रह्म एवं उसकी शक्तियों का दार्शनिक रहस्य विमर्श' में कीर्तिका भट्टाचार्य ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय के आधार पर शब्द ब्रह्म की शक्तियों की समीक्षा की है।

सप्तम आलेख 'आश्वमेधिक पर्व में ब्रह्माजी का सांख्य शास्त्रीय उपदेश' में समीर कुमार द्वारा दु:ख नाश में सांख्य के दार्शनिक ज्ञान की उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयास हुआ है।

अष्टम आलेख 'श्रीकरपात्रस्वामिमते श्रीमद्भगवद्गीतायां अद्वैततत्त्वविमर्शः' में प्रो. उमारानी त्रिपाठी ने गीता की अद्वैत परक व्याख्या को सयुक्तिक एवं सप्रमाण प्रमाणित किया है। अतः सादर प्रणाम।

नवम आलेख 'वैखानसागमे मन्त्रविमर्शः' में प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने वैखानस आगम में मन्त्र विद्या के गम्भीर रहस्यों को सुस्पष्ट करते हुए पिण्ड शरीर में ब्रह्माण्ड की कल्पना विधान की अद्भुत प्रस्तुति की है। अतः हार्दिक अभिनन्दन।

दशम आलेख 'तन्त्रागमस्वरूपवर्णनम्' में तन्त्र और आगम को प्रामाणिक आधारों पर परिभाषित करने की सफल चेष्टा की गई है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

एकादश आलेख 'वेदागमयोस्सम्बन्धविचारः' में दीपक पालीवाल ने वेद और आगम के अन्तःसम्बन्ध को तार्किक रूप में प्रस्तुत किया है जिससे दोनों का ऐक्य सिद्ध होता है।

द्वादश आलेख 'प्रत्यभिज्ञादर्शने षट्त्रिंशत्तत्त्वानि' में भास्कर राय ने कश्मीर शैव दर्शन के 36 तत्त्वों को परिभाषित किया है। शाक्तदर्शन भी इन्हें इसी रूप में अङ्गीकार करता है। साधकों के लिए इन तत्त्वों का बोध परमावश्यक है।

त्रयोदश आलेख 'Yoga: Ancient Indian Philosophy to Practical Life of Common Man' में डॉ. सुशिम दूबे ने योगदर्शन की गहनता, ऐतिहासिकता, विविधता, स्वरूप एवं अष्टांग योग का सारभूत प्रतिपादन किया है। यह योग आज के वर्तमान जीवन में कितना आवश्यक है इसे सुस्पष्ट किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

चतुर्दश आलेख 'Lalita abides in the Heart' में विश्रुत विद्वान् डॉ. चमनलाल रैना ने श्रीललितात्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्रमय अन्तर्यजन को शैवदृष्टि से प्रतिपादित किया है। शाक्त साधना का सूक्ष्म स्वरूप इससे सुस्पष्ट होता है। एतदर्थ सादर प्रणाम।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
rajendrasharmauniraj@gmail.com

श्रीविद्या का रहस्य

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज

अनाद्यनन्त संसारसागर में डूबता इतराता जीव अवश्य ही पार जाने को इच्छा करता है। किसी भी योनि में स्वाभाविकास्वाभाविक सुखदुःख का अनुभव करता, अपनी परिस्थितियों के अनुसार उनसे यथाशक्य जूझने का प्रयास करता तथा परमकरुणामयी पराम्बा द्वारा निरन्तर प्राप्ताश्रय रहता है। सुषुप्ति में सुप्ति के व्याज से 'स्वमतीतो भवति' परमकरुणामयी अकारणकरुण करुणावरुणालय माँ की गोद में भवाटवी के सभी दुःखों को भूल कर पुनः नूतन शक्ति नूतन स्फूर्ति सम्पन्न हो, परिस्थितियों से जूझने के लिये नूतन शक्ति सम्पन्न हो जाता।

मानवजीवन के चतुर्विधपुरुषार्थ में अर्थ काम दो मध्यवर्ती और धर्म मोक्ष दोनों आद्यन्तसीमावर्ती चरमलक्ष्य हैं। दृष्टपरिणामफलक दृष्टोपाय ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक फलाभाव के कारण चरमोपायत्वेन समाश्रयणीय नहीं हैं। कर्मकाण्ड, भक्ति, ज्ञानादि विविध उपाय शास्त्रसम्मत है। स्वल्पायास साध्य इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिहारोपाय वेदशास्त्र में गूढ भाषा सांकेतिक मन्त्र (बीजादि) यन्त्र तन्त्र आदि द्वारा गुप्त-प्रकट है। इसका रहस्योद्घाटन गुरुमुखैकसम्भव है। वेदपुरुष द्वारा भी गूढार्थ गुम्फितवाक्यों द्वारा सङ्केतित तथा उपनिषद् द्वारा भी लक्ष्यार्थ रूप में प्रतिपादित है।

आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दुःखों से संत्रस्त प्राणी भले उनसे मुक्ति पाने के लिए उपनिषदादि चरमोपायों का आश्रयण करें किन्तु उसके मन में पूर्णवैराग्यप्रादुर्भाव से पूर्व सांसारिक भावनाएँ बनी रहती है। उनकी तृप्ति के बिना मोक्ष का अधिकारी भी नहीं हो सकता और न उसके मन में वास्तविक मुमुक्षा ही प्रादुर्भूत होती है। कर्मफल की स्वाभाविक इच्छा पूर्ति के लिए वैदिक कर्मकाण्ड ऐहिकामुष्मिक इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिहारार्थ यज्ञादि का आश्रयण करते हैं। किन्तु ऐषणात्रय से व्युत्थित व्यक्ति के लिए गुरूपसदन द्वारा परतत्त्वचिन्तन का ही अवलम्बन इष्ट है। किन्तु मध्यवर्ती उपासक इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिहार भी चाहता हुआ भवाटवी के जंजालों से उन्मुक्त भी होना चाहता है। ऐसे व्यक्ति के लिए 'श्रीविद्या' ही एकमात्र साधन है। लक्ष्यरूप (बिम्ब) परब्रह्म का एक मात्र आश्रयण करने वाली जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप त्रिलोकी में विहरणशील लक्ष्मी पराम्बा ही श्री शब्दवाच्या है। अथवा सृष्टि-स्थिति-संहारचक्र प्रवर्तन इच्छावान् परब्रह्म ही परशिवरूप हो जिस महाशक्ति का समाश्रयण करते हैं वहीं श्रीशब्दवाच्या पराशक्ति है। अथवा संसारदावाग्निसंदग्धजीव अखिलदुःखनिवृत्ति तथा परसुखप्राप्त्यर्थ जिन पराम्बा का समाश्रयण करते हैं वह

श्रीशब्दवाच्या पराविद्या श्रीविद्या कहलाई है। इस अर्थ में उपनिषद् विद्या के समान गत्यवसादनविसरण आदि लौकिक उपाय द्वारा मुमुक्षु को सर्वविध मलावरणविक्षेपादि आत्यन्तिक निवृत्ति द्वारा स्वरूपाभिव्यक्तिपुरस्सर परमानन्दपरमेश्वर्य सम्पादन इस विद्या का परम लक्ष्य है। कहीं-कहीं इस अद्भुत विद्या में जादू का चमत्कार भी कहा है। अजर अमर अविनाशी तत्त्व की प्राप्ति अविद्या निवृत्ति द्वारा ही दार्शनिकों ने सम्भव बताई है। किन्तु श्रीविद्या का उपासक अद्भुत मस्ताना संसारदशा में भी संकल्प और भावना के स्थिरीकरण का सामर्थ्य रखता है।

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधिहरिसपत्नो विहरते,
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा।
चिरञ्जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः,
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान् ॥ — *सौन्दर्यलहरी*

परानन्दकोटि प्रवेश से पूर्व ही ईश्वरकोटि प्रविष्ट ब्रह्मा विष्णु की नित्यशक्ति सरस्वती लक्ष्मी के आधिपत्य में तत् तद् गुणेश्वरों का साफल्य और दैहिकरमणीयता में कामपत्नी रति के पातिव्रत्य का भी उन्मन्थन चरमलक्ष्य प्राप्ति से पूर्व ही श्रीविद्या का चमत्कार है। इस प्रकार सर्व-लोकातिशायी उपादेयता तथा हितसम्पादननिपुणविद्या को वेदपुरुष ने भी अत्यन्त गूढ सांकेतिक शब्दों में वर्णित किया है। इसलिये कहा है दूसरी लौकिक-अलौकिक विद्याएं वेश्या की भाँति प्रकट है। परन्तु असूर्यम्पश्या राजमहिषी के समान 'वेदेष्वपि चतुर्षु परमत्यन्तं गोपनीयतरम्' श्रीविद्या का अत्यन्त गुप्तरूप है। इस कारण वरिवस्याकार श्रीभास्कराय ने—

कामो योनिः कमलेत्येवं सांकेतिकैः शब्दैः।
व्यवहरति न तु प्रकटं यां वेदपुरुषोऽपि।।

श्रीविद्या का उद्धार शांख्यायनश्रुति के अनुसार इसी गूढ़ साङ्केतिक भाषा में कामः (ककारः) योनिः (एकारः) कमला (तुरीयस्वरः) वज्रपाणिः (इन्द्रो लकारः) गुहा (लज्जाबीजम्) हसा (हसेति) मातरिश्वाभ्रमिन्दः (सकलेतिस्वरूपम्) पुनर्गुहा सकला (मायाबीजं सकलेति) मायया च (लज्जाबीजेन) पुरुच्येषा विश्वमाताऽऽदि विद्या। "एतादृशैः साङ्केतिकैः शब्दैरत्यन्तगोपनीयत्वं समर्थितं भवति।" इस प्रकार श्रुति ने तथा अभियुक्तों ने एक स्वर से इस पर विद्या की परमगोपनीयता का प्रतिपादन किया।

चतुर्दशविद्याओं का सार वेदत्रयी, वेद का सार, वेदमाता गायत्री और गायत्री भी अपरा और पररूप से दो प्रकार की। अपरा गायत्री भी पादत्रयों तथा तुरीयपाद से युक्त परावरतत्त्व का प्रतिपादन करती है। वह समस्त गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा शब्दमयी विश्वमूर्ति अपने प्रथमपाद के अष्टाक्षर से भूमि (दो) अन्तरिक्ष (चार) तथा द्यौः (दो) अक्षरों से विनिर्गत अर्थ (तत्त्व) मयी देवता है। गायत्री द्वितीयपाद से शब्दमयी मूर्ति ऋचः (दो) यजूंषि (तीन) सामानि (तीन), इस प्रकार द्वितीयाष्टाक्षर पादा तथा तृतीयाष्टाक्षर से प्राणः (दो) अपानः (तीन) तथा व्यानः (तीन) अध्यात्मरूप हुई तथा तुरीय परोरजसेऽसावदोम् प्रणव युक्त समस्त गायत्री की

प्रतिष्ठा परमतत्त्व का द्योतन करती है। श्रीविद्या का चमत्कार है कि ऐसी आलौकिक चतुष्पदा गायत्री श्रीविद्या के प्रथम वाग्भवकूट में अन्तर्भूत है। द्वितीय तृतीय कामराज सथा शक्तिकूट लौकिकालौकिक चमत्कार समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति या सर्वातिशायी ऐश्वर्य भूमा सुखसम्पादन आदि दिव्यातिदिव्य विभूतियों के आकार माने गये हैं।

समस्त श्रीविद्या तो क्या इसमें केवल ह्लेखा ही दिव्य चमत्कारों का भण्डार है। ह्लेखा की द्वादश संहतिः, हकार रेफ तुरीय स्वर तथा अनुस्वार के सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मतमादि नवध्वनि विशेष बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मना एक से एक बढ़कर अलौकिक चमत्कारों के निधान हैं। बिन्दु से महाबिन्दु पर्यन्त यात्रा सुषुम्ना से परे आज्ञाचक्रानन्ता योगी और श्रीविद्या अन्तरङ्गोपासक का आराध्य क्षेत्र है। मूलरूप से आज्ञापर्यन्त कुण्डलिनी महाशक्ति का विविधदल कमलों का आक्रीड है। तदनन्तर परतत्त्व का ईषत्ज्ञान होने के कारण ज्ञानसिन्धु तथा आनन्दसिन्धु का अवगाह आरम्भ होता है। उच्चगणित में जैसे निपुणगणितज्ञ एक और शून्य की परिधि में अन्तर्निदिष्ट हो सूक्ष्मसूक्ष्मातरादि स्तरों से पार जाकर ससीम की अन्तिम बीज, ज्यामिति तथा गणितानुसार परिधियों का विश्लेषण कर परिधि विलयनानन्तर असीम में विहार करता है। ठीक वैसे ही योगी और साधक भी मात्रा में सन्निविष्ट 256 काल के लव परमाणुओं का क्रमशः ह्रास बिन्दु में 128, अर्द्धचन्द्र में 64, रोधिनी में 32, नाद में 16, नादान्त में 8, शक्ति में 4 व्यापिका में 2 लव, समना में 1 तथा उन्मना में सूक्ष्मानन्त (Infinitesimal) का अनुभव करता अत्यन्त असीम महाकाल महाकाश परातत्त्व में विहरण करता परानन्दाभिख्य पद का अस्वाद करता है। यहाँ अर्थमयी सृष्टि का बाह्य (व्यापक) तथा सूक्ष्म (आन्तर) परिधि विलयन अन्तर्याग द्वारा प्रायः प्रतिदिन साधक को होता है। शब्दमयी सृष्टि भी संहारक्रम से बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परावाक् में सूक्ष्मसूक्ष्मतर पद्धति से प्रविष्ट हो शब्दमयी सृष्टि में श्रीविद्या के पञ्चदश अक्षरों, कूटत्रय तथा प्रतिपन्मुख्यराकान्ततिथिमण्डल तथा राकादिदर्शान्तपञ्चदशनित्यामण्डल में व्याप्त तथा तज्जीवनाधारभूता पोडशी कला के रूप में अभिव्यक्त है।

'छादनात् छन्दः' इस न्याय से शब्दमयी मूर्ति देवतात्मा होकर शब्दरूप शरीर को धारण करती है।

अकचादिटतोन्नद्धपयशाक्षरवर्गिणीम्।
ज्येष्ठाङ्गबाहुहृत्पृष्ठकटिपादनिवासिनीम्॥

इस प्रकार साधक शब्दमयी मूर्ति के सम्पर्क से देवतात्मा या सन्निधान प्राप्त करता है। ककारादि किसी एक अक्षर अथवा ह्लेखान्तर्गत किसी एक ध्वनि के बल पर दिव्य चमत्कारों का आश्रय बन जाता है।

यदक्षरैकमात्रेऽपि संसिद्धे स्पर्द्धते नरः।
रवितार्क्षेन्दुकन्दर्पशंकरानलविष्णुभिः।।

जिस विद्या के एक अक्षर मात्र के सिद्ध होने पर साधक पुरुष सूर्य, गरुड, चन्द्र, कामदेव, शंकर, अग्नि और विष्णु आदिकों के साथ ऐश्वर्य स्पर्धा करने लगता है। अद्वैतसिद्धान्तानुसार भी—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥

दिक्कालवस्तुपरिच्छेद ही उच्चावच सभी भेदों का कारण है। समस्त परिच्छेदशून्य शुद्धचैतन्य ही परम पद है जिसे '**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**' कहा गया है। वहीं विष्णु का परमपद है। श्रीविद्या की कृपा से साधक के लिए हस्तामलकवत् सदा प्राप्त है।

श्रीविद्याप्रतिपादक तन्त्र चन्द्रकला विद्याष्टक के अनुसार—चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधिः, कुलार्णवम्, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्यम्, दूर्वासमतम्—यह तन्त्राष्टक है। इसमें तीनों द्विजाति वर्णों और शूद्रों का भी अधिकार है। ब्राह्मणादित्रैवर्णिका के लिए दक्षिण मार्ग से अर्चनादि प्रतिपादित है, शूद्रादिकों के लिए अपसव्यमार्ग का विधान निरूपित है। दक्षिण वैदिक मार्ग को श्री लक्ष्मीधराचार्य ने 'समयाचार यही है' ऐसा कहा है। यही आद्यशंकर भगवत्पाद द्वारा प्रतिपादितमार्ग वसिष्ठ, सनक, सनन्दन, शुक, सनत्कुमार इन पाँच मुनियों ने अपनी-अपनी संहिताओं में किया है। इन पांचों संहिताओं को मिलाकर शुभगाशुभपञ्चक कहा है। इनमें निरूपित मार्ग समयाचार अथवा वैदिक मार्ग कहा जाता है। चन्द्रकला विद्याष्टक में कुलमार्ग एवं समय मार्ग दोनों निरूपित है, इसलिए विद्वद्वर्ग ने उसे 'मिश्रक' कहा है।

'मिश्रकं कुलमार्गं च परित्याज्यं हि शाङ्करि॥' इस ईश्वर वचनानुसार मिथ और कौलमार्ग का त्याग करना चाहिए। चतुःषष्टितन्त्र कौलों द्वारा समादृत होने से कौल मार्ग ही हैं तथा चतुःषष्टिविद्यान्तर्भूता चन्द्रज्ञान विद्या में षोडशनित्याओं का प्रधानतया निरूपण है और चक्र विद्या में मूल विद्यान्तर्भूत होने के कारण उनका अङ्गतया ग्रहण है।

षोडशनित्या चन्द्रकलाप्रतिपदादिपूर्णान्त तथा पूर्णादिदर्शान्त तिथियों और षोडशस्वरों से परिलक्षित हैं। श्रीचक्र में अष्टदलकमल में प्रतिदल में दो-दो करके और षोडशदल कमल में प्रतिदल एक के अनुपात से स्थित है। इनमें से प्रथम नित्याद्वय त्रिकोण बिन्दु रूप में तथा शेष चतुर्दशार में तथा मेखलात्रय, नूपुरत्रय तथा बिन्दुत्रिकोण में अन्तर्भूत है। इसी अन्तर्भाव को 'मेरुप्रस्तार' कहा है।

सनन्दनसंहिता में भी षोडशनित्याओं को चन्द्रकला और चक्र विद्या की अङ्गभूता माना है। यहां षोडशनित्या स्वरात्मिका होकर जीवकलारूप से पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में एकारादिभूत अकार और विसर्गात्मक सकार द्वारा बैन्दवस्थान में स्थापित तथा अन्तर्भूत है। 'क' से आरम्भ तथा 'म' पर्यन्त सभी स्पर्श अष्टार और दशकोणद्वय में अन्तर्भूत हैं। शेष मकारादि नव वर्ण दो बार आवृत्ति से चतुर्दशार के चौदह कोणों में तथा शेष चार शिवत्रिकोणों में अन्तर्भूत होंगे। इस प्रकार के अन्तर्भाव को 'कैलासप्रस्तार' कहा है।

इसी प्रकार 'भू-प्रस्तार भी सनत्कुमारसंहिता के अनुसार चक्रविद्यामें षोडशनित्याओं का अङ्गत्वेन अन्तर्भाव दिया है। वशिनी आदि अष्ट देवताओं को दो-दो करके बिन्दुत्रिकोण को छोड़कर अष्टकोण में

अन्तर्भाव किया है, मध्य में त्रिपुरसुन्दरी का अन्तर्भाव है। अष्टवर्ग में वशिनी आदि आठ को, षोडशनित्याओं को, द्वादशयोगिनी और चार गन्धाकर्षिणी आदि को अन्तर्भूत करके एक त्रिपुरसुन्दरी को वैन्दवस्थान के नीचे तथा चार द्वारों में चार गन्धाकर्षिणी आदि का अन्तर्भाव है। इस प्रकार षोडशनित्याओं का विभिन्न प्रकार से चक्रविद्या में अन्तर्भाव और अङ्गत्व माना है।

इन पर चन्द्रकलात्मिका षोडशनित्याओं का स्थान विशुद्धचक्र (कण्ठ) और षोडशार है। वहाँ पूर्वादिदिशाके क्रम से षोडशनित्या घूमती रहती है। उसके नीचे संवित्कमल द्वादशार में सूर्यमण्डल की द्वादश कलाएँ पूर्वादि दिशाक्रमानुसार परिभ्रमण है। सूर्य-चन्द्र के देवयान पितृयान रूप इडा पिङ्गला मार्ग से दिन-रात्रि का सञ्चार होता है। इनमें चन्द्र वामनाडीमार्ग से सञ्चार करते हुए बहत्तरसहस्र नाडियों का अमृत से अभिषिञ्चन करते हैं। सूर्य दक्षिणनाडीमार्ग से सञ्चार करते हुए उन नाडियों में परिषिक्त अमृत को खींच लेते हैं। जब चन्द्र-सूर्य दोनों का आधार चक्र में समावेश होता है तब अमावस्या तिथि कहलाती है। कृष्णपक्ष की तिथियों का यहीं से प्रादुर्भाव है। कुण्डलिनीशक्ति इसी मूलाधार कुण्ड में सूर्यकिरणों के सम्पर्क से विलीन चन्द्रमण्डल मध्यवर्ती अमृतधारा परिप्लुत कुण्ड में सुप्त पड़ी रहती है। यही स्वापावस्था ही कृष्णपक्ष कहलाती है। जब योगी योगसमाधि द्वारा चन्द्र को चन्द्रस्थान में और सूर्य को सूर्यस्थान में प्राणायाम द्वारा निगृहीत करने में समर्थ होता है। तब निरुद्धचन्द्रसूर्य अमृतसेचन अथवा अमृतशोषण में असमर्थ हो जाते है। तब प्राणायामवायु से प्रेरित स्वाधिष्ठानाग्नि मूलाधारस्थित अमृत कुण्ड को सुखा देती है, तब बिना आहार के कुण्डलिनी फूत्कार करती हुई सुप्तिसर्पिणी के समान उठती हुई स्वाधिष्ठान में ब्रह्मग्रन्थि, अनाहत में सूर्यग्रन्थि और आज्ञाचक्र में रुद्रग्रन्थि को भेदन कर सहस्रदल कमल मध्यवर्ती चन्द्रमण्डल को डसती है। इस प्रकार चन्द्र से प्रस्फुटित अमृत धाराएं आज्ञाचक्र के ऊपर चन्द्रमण्डल को आप्लावित करती समस्त देह को अमृतधारा से आप्लावित करती हैं। इस प्रकार आज्ञाचक्र के ऊपर स्थित चन्द्र की पन्द्रह कला पञ्चदश नित्या है। यही नित्यायें नीचे विशुद्धिचक्र में आश्रित हो परिभ्रमण करती है। सहस्रदलकमलान्तःस्थित चन्द्रमण्डल ही बिन्दु (वैन्दव) स्थान है। उसकी कला आनन्दमयी त्रिपुरसुन्दरी, आत्मा कही जाती है। इस प्रकार योगीश्वर लोग शुक्ल पक्ष में ही कुण्डलिनी प्रबोध कर सकते हैं, कृष्ण पक्ष में नहीं। यह एक रहस्य है। शुक्ल पक्ष की तिथि या पौर्णमासी नाम से पुकारी जाती हैं। ऐसे ही कृष्णपक्ष की तिथियाँ अमावस्या में अन्तर्भूत होती है। वहीं एक मात्र अमावस्या ही कृष्णपक्ष है। इस कारण मूलाधार चक्र को अन्धतामिस्र भी कहा है। स्वाधिष्ठान में सूर्यकिरणों का सम्पर्क होने से मिश्रलोक है। मणिपूरक में अग्निसम्पर्क रहने पर भी सूर्य किरणों का प्रतिविम्ब जल में पड़ता है, अतः यह मिश्रक लोक ही हैं। अनाहतपर्यन्त ज्योति और तमस का मिथ लोक है, अनाहत ज्योतिर्लोक है। विशुद्धि चक्र से चान्द्र लोक का आरम्भ है। विशुद्धि चक्र चान्द्र लोक है। आज्ञाचक्र चन्द्र स्थानवत् सुधालोक है। इन दोनों चक्रों में सूर्य किरणों के सम्पर्क के कारण ज्योत्स्ना (स्वप्रकाश) नहीं है। सहस्र दल कमल ज्योत्स्नामय लोक है। वहाँ स्थित चन्द्र मण्डल नित्यकला से युक्त रहता है।

यह चन्द्रबिम्ब श्रीचक्र है, साधारण कला है, इसलिये त्रिकोण आधार (मूल) है, अष्टकोण स्वाधिष्ठान, दशार मणिपूरक, द्वितीय दशार अनाहत, चतुर्दशार विशुद्धिचक्र, चार शिवचक्र (योनियाँ-त्रिकोण) आज्ञाचक्र, बिन्दुस्थानचतुरस्र सहस्रदल पद्म। इस प्रकार **'शरीरं चिन्तयेदादौ निजं श्रीचक्ररूपिणम्।'** आज्ञाचक्रगत चन्द्र में पञ्चदशकला, श्रीचक्र रूप चन्द्र बिम्ब में परमा एक ही कला का निवास है। इस प्रकार कुल मिलाकर षोडशकला श्रीचक्र में, षोडशाक्षर कला मन्त्र में, तथा बैखरी शब्दराशि में व्याप्त है। यही सरस्वती के पञ्चाशद्वर्णात्मक अङ्ग हैं, शब्दमयी मन्त्र मूर्ति है, तथा श्रीयन्त्र के कूटत्रय—वाग्भव, कामराज और शक्तिकूट है।

षोडशेन्दोः कला भानोः द्विद्वादशदशानलैः।
सा पञ्चाशत्कला ज्ञेया मातृकाचक्ररूपिणी।।

'अकारादि षोडशस्वर चन्द्र की षोडशकला, कवर्गादि से लेकर पवर्गान्त अनुलोम प्रतिलोम मेलनरूप 'कं मं खं बं गं पं' आदि विधि से सूर्य की द्वादशकला रूप चौबीस वर्ण तथा यकारादि क्षकारान्त अग्नि की दशकला, इस प्रकार पचास कला हुई। इनमें व्यञ्जन स्वरों के अङ्ग मात्र हैं। इसलिए ककारादि से लकारान्त 'कला' शब्द का प्रत्याहार गौण है, कला स्वरों का प्रधान सम्बन्ध बताना मुख्यार्थ है। यही पञ्चदशाक्षरी में 'क' से लेकर अन्तिम तृतीय कूटस्थ लकार के प्रत्याहार से 'कला' शब्द का निर्वचन है—अकार की प्राप्ति 'ए'कार मध्यवर्ति अकार से होती है। चार अनुस्वार बिन्दु का लक्ष्य करते हैं, इस कारण बिन्दुओं को ऊपर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार बिन्दु से ऊपर का नाद भी संगृहीत है। इस प्रकार नाद बिन्दु कलात्मक श्रीचक्र त्रिखण्ड रूप है। षोडशी सादाख्या कला नादबिन्दुकला से अतीत नित्य कला है, इसी का दूसरा नाम 'श्रीविद्या' है।

प्रत्याहार (आदि अन्त का मिलापन) चार प्रकार के ऐक्य का स्पष्टीकरण करते हैं। अकारादिषोडशस्वर, स्पर्शों में 'क' से लेकर 'त' तक सोलह स्पर्श और 'थ' से लेकर 'स' तक सोलह-स्पर्श ऊष्माणादि यह षोडश त्रिक षोडश नित्याओं में अन्तर्भूत हैं। हकार आकाशबीज वैन्दवाकाश में निलीन हुआ। लकार अन्तस्थों में रहने पर भी पुनः 'क' कार से प्रत्याहृत होकर 'कला' रूप में परिणत हुआ। 'क्ष' कार 'क' और 'ष' का संयोग होने से समुदाय रूप हुआ। इस प्रकार 'अ' कार से 'क्ष' कार तक प्रत्याहार करके अक्षमाला बनी। इस कारण यन्त्र के शक्ति खण्ड (तृतीय) में 'सकलह्रीम् में 'क' और 'ल' के योग से 'ला' शब्द, 'क' और 'ष' के योग से 'क्ष' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ और इस प्रकार मन्त्र वर्णों से सभी मातृकाओं की उत्पत्ति हुई, इस विधि से षोडश नित्याओं की षोडशवर्णात्मिकता, षोडशवर्गों की पञ्चदर्शवर्णात्मकता और पञ्चदशवर्णों की चन्द्रसूर्याग्नि-कलात्मकता, चन्द्रसूर्याग्निरूप में मन्त्र की त्रिखण्डात्मकता, ऐसे चतुर्विध ऐक्य का अनुसन्धान हुआ।

ऐसे ही चक्र और 'मन्त्र' का भी ऐक्यानुसन्धान है। तीन 'ह्रींकार' और श्रीबीज शिवचक्रचतुष्टय त्रिकोणों में बिन्दुरूप से अन्तर्भूत है। 'सकल' के वर्णत्रय से अक्षमालात्मिका मातृका संगृहीत है। दोनों मातृका और अक्षमाला चक्र में अन्तर्भूत है, जैसे चार 'अन्तस्था' और (य र ल व) 'ऊष्माण, (श ष स ह) अष्टकोणात्मक चक्र में लीन हुए। 'क' से 'म' तक पञ्चम वर्णों (ङ ञ ण न म) को छोड़कर दशार युग्म में लीन हुए। वर्गों के पञ्चमाक्षर अनुस्वार सहित 'बिन्दु' में अन्तर्भूत हुए। चतुर्दश स्वर चतुर्दशार में और अनुस्वार विसर्ग का 'बिन्दु' में अन्तर्भाव हुआ। इस प्रकार सुभगोदय मत के अनुसार चक्र मन्त्र का ऐक्यानुसन्धान है।

पूर्णोदय के मतानुसार चक्र चन्द्र सूर्य अग्नि रूप त्रिखण्ड है। ऐसे मन्त्र का भी त्रिखण्डत्व प्रसिद्ध है। चन्द्र की 16 कला इन्दु खण्ड में, सूर्य की अनुलोम प्रतिलोम 24 कला सौरखण्ड में और अग्नि की दश कला अग्निखण्ड में अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार से कला, यन्त्र और मन्त्र का ऐक्यानुसन्धान है। यह ऐक्यानुसन्धान ही मन्त्र-यन्त्र पूजा का मुख्य लक्ष्य है। मन्त्र में—

कत्रयं , 'हद्वयं' चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः।
शक्त्यक्षराणि शेषाणि ह्रींकार उभयात्मकः ॥

तीन ककार और दो हकार शिव का भाग, शेष अक्षर शक्ति भाग तथा ह्रींकार उभयभाग है। इसी प्रकार चक्र में भी—

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोः वपुः ॥

चार शिव चक्र और पाँच शक्ति चक्र मिलकर नव चक्रों से शिवशिवादेहात्मक श्री चक्र बनता है। इनमें पाञ्च शक्ति चक्र—

त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च।।

और चार शिव चक्र—

बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मषोडशपत्रकम्।
चतुरश्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्।।

अब इन दोनों का ऐक्यानुसन्धान 'त्रिकोण' में बिन्दु को, अष्टार में अष्टदल कमल को, दो दशारों में षोडशार को और चार भूगृहों को चतुर्दशार में विलीन करे।

त्रिकोणं बैन्दवे श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्च के।।

इस प्रकार—

शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित्।।

शिव शक्ति चक्रों का ऐक्यानुसन्धान ही श्रीचक्र पूजन है। कारण कि शक्ति त्रिकोणरूपिणी बिन्दुरूप परमशिव से सदा समरसभाव को प्राप्त है—

त्रिकोणरूपिणी शक्तिर्बिन्दुरूपः परः शिवः।
अविनाभावसम्बन्धः तस्माद्बिन्दुत्रिकोणयोः।।

इस विभाग और ऐक्यानुसन्धान ज्ञान के बिना श्रीचक्रपूजन यथोक्त फलदायक नहीं होता।

सुभगोदयानुसार षोडशनित्या शुक्ल-कृष्ण पक्षों में विनिर्गत अथवा अन्तर्लीन चन्द्र षोडशकला 'दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताः' तिथियाँ हैं—

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥

दर्शा नाम अमावस्यानन्तर प्रतिपत् तिथि जिनमें किञ्चिन्मात्रदर्शन होता है, दर्शा कहलाती है। इस प्रकार श्रुति ने दर्शा, दृष्टा, दर्शता, विश्वरूपा, सुदर्शना, आप्यायमाना, आप्याया, सूनृता, इरा, आपूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा और पौर्णमासी ऐसे पञ्चदश शुक्ल तिथियों के नाम हुए। इनके अनुसार *वसिष्ठसंहिता* में—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि नित्याषोडशकं तव।

कहकर महात्रिपुरसुन्दरी, कामेश्वरी, भगमालिनी, नित्यक्लिन्ना, भेरुण्डा, वह्निवासिनी, महावज्रेश्वरी, रौद्री, त्वरिता, कुलसुन्दरी, नीलपताका, विजया, नित्या, सर्वमङ्गला, ज्वालामालिनी, चित्रा। इस प्रकार षोडशनित्याओं का षोडश चन्द्रकलाओं के साथ तादात्म्य होकर श्रीचक्राङ्गतया उपासन ऐक्यानुसन्धान है।

इस समस्त ऐक्यानुसन्धान का सार विश्वरूपिणी, विद्यारूपिणी तथा चक्ररूपिणी शक्ति का शिव के साथ सामरस्यस्थापन है।

बन्धनं योनिमुद्राया मन्त्राणां वीर्ययोजनम्।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत्।।

यहाँ आदि 'अकार' का अन्त्य 'ह' कार के साथ समाहारद्वन्द्व कर 'अहम्' तत्त्व का प्रतिपादन 'हंसः' 'सोऽहम्' के रूप में अवस्थिति तथा तुरीयस्वर मैं कामकलारूपत्व हादिकलासंयोग का रहस्यानुसन्धान और योगिनीहृदयानुसार—

मध्यबिन्दुविसर्गान्तः समास्थानमये परे।
कुटिलारूपके तस्याः प्रतिरूपं वियत्कले॥

अर्थात तुरीयबिन्दु कामाख्या, वह तुरीयबिन्दु और विसर्ग के समष्टि-व्यष्टि-रूप मध्य में अन्तःपाति होने से। यहाँ समष्टि बिन्दु है, व्यष्टि विसर्ग के दो बिन्दु हैं, इन दोनों में चैतन्यात्मक अवस्थान है। अतः अन्तिम अकार हकार मातृकाओं में चरम होने के कारण अकार-हकार अनुलोम-प्रतिलोम क्रम से उभय चरम संज्ञा युक्त हैं। यह दोनों अक्षर कुटिला तुरीय स्वर अथवा अकुल-कुल-कुण्डलिनी में अन्तर्निविष्ट है। वियत्पद से शून्याकार काम संगृहीत है, कला से हार्दकला। इस प्रकार प्रकार हकार स्वरूपा कामकला इस महामन्त्रराज से सम्प्राप्त है। इसका सार श्री भास्कररायमस्करी ने सुन्दररूप से अङ्कित किया है।

अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ।
स्फुरप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म।
विश्वसिसृक्षावशतः स्वार्धां शक्तिं विलोकयद् ब्रह्म।
बिन्दुर्भवति तमिन्दुं प्रविशति शक्तिस्तु रक्तबिन्दुतया ॥
एतत्पिण्डद्वितयं विसर्गसंज्ञं हकारचैतन्यम्।
मिश्रस्तु तत्समष्टिः कामाख्यो रविरकारचैतन्यम् ॥
एषाऽहंपदतुर्यस्वरकामकलादिशब्दनिर्देश्या॥
वर्ण्यसृष्टिबीजं तेनाऽहन्तामयं विश्वम् ॥
अन्त्यप्रथमे मध्ये चतुर्थे मन्त्रेऽपि तौ व्यक्तौ।
तेनाम्बामनु जगतामभेद एवात्र भावार्थः ॥

अर्थात् शिवशक्तिरूप अकार हकार स्वयं आकाशरूप शून्याकार होकर परस्पर आलिङ्गन करते हुए स्फुरण और प्रकाश रूप से उपनिषद्वर्णित पर ब्रह्म है।

वही ब्रह्म विश्वसृष्टि की भावना से स्वात्मशक्ति (अर्द्धशक्ति) का अवलोकन कर बिन्दु (श्वेतवीर्य कीटाणु) बनकर स्वात्मशक्ति में प्रविष्ट होता है। उसी इन्दुरूप प्रकाश बिन्दु में रक्त बिन्दु रूप होकर शक्ति प्रवेश करती है।

यह दो बिन्दु दो पिण्ड विसर्ग (अः) नाम से अभिव्यक्त चैतन्य हकार रूप में परिणत होते हैं। इन दोनों की मिश्रित समष्टि रूप से 'काम' नाम से प्रसिद्ध अकार चैतन्य रूप सूर्य आ मिलता है।

इस प्रकार अकार हकार पद परस्पराश्लिष्ट तुरीय स्वर (ई) कामकला आदि शब्दों से व्यवहृत हो समस्त वाणी और शब्दार्थ सृष्टि में व्याप्त है। इस कारण सभी विश्व अहन्तामय ही है।

मन्त्र के अन्तिम शक्तिकूट के प्रथमाक्षर (स) में और मध्य (कामराजकूट) के चतुर्थाक्षर रूप में उल्लिखित हैं, इस कारण समस्त समष्टि व्यष्टि भावापन्न अहन्तापरिलक्षित पराम्बा, मन्त्र और जगत् का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है।

जिस प्रकार सागर को गागर में भरना केवल प्रयास मात्र है वैसे ही 'श्रीविद्या' को एक लघुलेख की परिधि में बाँधना। यदि सिन्धु बिन्दु में समा सकता है—तो दिक् काल वस्तु परिच्छेद शून्यतत्त्व को 'ललिता' ऐसे तीन अक्षरों में समस्त परावरानन्द का निर्देश किया जा सकता है। अशेषता समस्त जगत् हृल्लेखात्मक है। वही गुप्त रूप से समस्त तन्त्रों का भार है—

व्योम्ना प्रकाशमानत्वं ग्रसमानत्वमग्निना।
तयोर्विमर्श ईकारो बिन्दुना तन्निभालनम्।।

हकार रूप आकाश से प्रकाशमान, रकार रूप अग्नि से उपसंहृत, उभय विमर्शरूप ईकार से संयुक्त अन्तिम बिन्दु (अनुस्वार) से परिपूर्ण है। यही हृल्लेखा लक्षित परब्रह्म है।

प्रस्तुतकर्ता–नन्दनन्दनानन्द सरस्वती
('सन्मार्ग' तन्त्रविशेषाङ्क से साभार)

उपचार मीमांसा की भूमिका

ब्रह्मलीन प्रो. विद्यानिवास मिश्र

उपचार मीमांसा में वस्तुत: विविध प्रकार के द्रव्यों से अथवा मन से इष्टदेवता के प्रति श्रद्धा निवेदित करने पर विचार है। ***उपचार मीमांसा*** के **'उपचारखण्ड'** में सिद्धान्तपक्ष पर विचार है और विचार करते समय यह ध्यान दिया गया है कि बाह्यपूजा के सोपान से ही आभ्यन्तर पूजा तक आदमी सुगमता से पहुँचता है। सीधे अव्यक्त तक पहुँचना क्लेशप्रद होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने *गीता* में भी यही बात कही है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते॥

जो लोग बाहरी पूजा को निरर्थक मानते हैं, वे यह नहीं सोचते हैं कि हम इन्द्रियगोचर संसार में रहते हैं, हम कितना भी प्रयत्न करें, इस संसार से ऊपर उठने के लिए इसके भीतर से गुजरना होगा। हर एक प्रज्ञावान् पुरुष जानता है कि बाह्यपूजा प्रथम है, पर साधारण व्यक्ति कहाँ से प्रारम्भ करे, जो उसको सुगम लगता है, उसी से न प्रारम्भ करेगा। गहराई में सोचने पर पता चलेगा कि बाह्यपूजा बाह्य विषयों को भीतर विलीन करने की प्रक्रिया है। उपचार-मीमांसा में यही दृष्टि रखी गयी है और इसका विशेष लक्ष्य **श्रीविद्या साधना** पीठ के साधक हैं। उपचार शब्द के तीन अर्थ है—

1. पास पहुँचना, पास पहुँचने की योग्यता प्राप्त करना।
2. अपने को गौण बनाना, इष्टार्थ को मुख्य बनाना।

दूसरा अर्थ ही उसे लक्षणा शब्द का पर्याय बनाता है। प्राचीन शास्त्रों में लक्षणा के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग है इस प्रकार उपासना और भक्ति समानार्थक हो जाते है। भक्ति का अर्थ भी यही है कि अपना अधिक प्रिय अंश दूसरे को सौंपना, दूसरे को बटना। जब हम 'यज्ञ' शब्द पर विचार करते हैं, तो उसमें भी यही अर्थ पाते हैं कि अपने इष्टदेव के लिए इष्टद्रव्य का त्याग, और त्याग के द्वारा उसके साथ संगति या सामञ्जस्य स्थापित करना। उसी यज्ञ का रूपान्तर भक्ति में या उपचार में हुआ है। जैसे यज्ञ के अनेक प्रकार हैं - द्रव्ययाग, स्वाध्याय यज्ञ, जपयज्ञ वैसे ही, भक्ति के भी कई स्तर है। विविध उपचारों से पूजन, धीरे-धीरे इस पूजन के द्वारा अन्तर्मुख होना और बाहर के पञ्चमहाभूतों को भीतर के पञ्चमहाभूतों के साथ एकीकृत करना और अन्त में मानसपूजा में उसे परिणत करना। इस मानसपूजन से भी उच्चतर स्तर है—समाधि।

उपचार शब्द का तीसरा अर्थ है शिष्ट व्यवहार, आदर, सजावट। (जैसे विभिन्न जयन्तियों पर झलकियाँ सजाते हैं। अनेक प्रकार की वेश-भूषा से, अलङ्कारों से इष्टदेवता की मूर्ति को सजाते हैं।)

उपचार का एक और अन्तिम अर्थ है, ब्याज, बहाना। हमारे वेदों में भी यह विचार मिलता है—

परोक्षप्रिया: देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

इसलिए हम किसी मूर्ति का पूजन नहीं करते, मूर्ति में आराधित परोक्ष देवता की पूजन करते हैं। हम पूजन करते समय अपने भीतर न्यास के द्वारा, पूजा की वस्तुओं के भीतर मन्त्र के, द्वारा मूर्ति के भीतर आवाहन के द्वारा परमतत्त्व की, परमव्यापक तत्त्व को ही प्रतिष्ठित करते है। इसलिए कहा जाता है—**'देवो भूत्वा देवं यजेत'**। देवता के लिए यज्ञ करें, उसके पहले अपने भीतर देवत्व की स्थापना कर लें, उसी को **न्यास** भी कहते है और जिन वस्तुओं से यज्ञ यागादि करें, उन वस्तुओं में भी दिव्यता का आवाहन कर लेते हैं।

पूजा के अर्थ वाले उपचार में सारे अर्थ सिमटे हुए हैं। प्रसङ्गवश यहाँ उपचार के लिए प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्दों (वरिवस्या, सपर्या, पूजा, अर्चा) पर विचार कर लेते हैं। वरिवस्या शब्द का प्रयोग तान्त्रिक साधना में विशेष रूप से हुआ है। वेदों में वरिवस का अर्थ है खुला स्थान, अवकाश, ऐसा स्थान जो ठीक-ठाक करके किसी के लिए तैयार किया गया हो। उससे नामधातु बनायेंगे तो उसका अर्थ यह होगा कि, अपने इष्ट के लिए स्थान बनाना। उनको प्रतिष्ठित करने के लिए उचित आसन देना। तान्त्रिक पूजा की विशेषता यही है कि वहाँ पहले पूजा सामग्री के लिए, पूजा पात्र के लिए, देवता के लिए स्थान बनाना होता है। जड़ता के वितान में कहीं एक चिन्मय स्थान बनाना। पूजा का अभिप्राय ही यह है कि चिन्मय पदार्थो से चिन्मयी की पूजा हो। अपने शरीर के प्रत्येक अवयव को चिन्मय बनाना होता है क्योंकि शरीर का प्रत्येक अवयव तभी अर्पणीय होता है जब देवी से एकाकार हो जाए। सपर्या शब्द दूसरा है। यह सत्कार मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। इसकी व्युत्पत्ति तो नहीं मिलती लेकिन मेरे अनुभव से संस्कृत में विरल धातु है स्पृणाति। उससे स्पर या सपर निकला हो और उससे यह शब्द बना हो, सपर्या अथवा इसका अर्थ भी उच्छ्वासित होना है, उच्छ्वसित करना है। किसी भी व्यक्ति या इष्ट के सत्कार के लिए उमगना और उस व्यक्ति या इष्ट देवता का उमंग के वातावरण में आहूत करना सपर्या है। सपर्या का एक अर्थ तैयारी भी है, जो लोक-भाषा के सपरने अर्थ में आज भी जीवित है। तीसरा शब्द है पूजा। यह प्रत्यक्ष या कल्पना में ध्यात द्रव्यों का इष्ट देवता के लिए निवेदन करना है। यह सत्कार का पूरक है। अर्चना इसी अनुभाव्य रूप की होती है। चाहे श्रीचक्र हो, मूर्ति हो। इसीलिए अर्चा का एक अर्थ विग्रह भी होता है। इसका अर्थ किसी यन्त्र पर कुछ चढ़ाना भी होता है। इतनी बात मैंने केवल सूचना देने के लिए जोड़ी है क्योंकि प्राय: इन शब्दों के सूक्ष्म भेद की चर्चा नहीं मिलती।

उपचार के कई प्रकार हैं। पञ्चोपचार, षडुपचार और षोडशोपचार मुख्य हैं। पञ्चोपचार वस्तुत: पाँच महाभूतों के पाँच प्रतीक द्रव्यों का अर्पण है। पृथ्वी तत्त्व का गन्ध के द्वारा, आकाश तत्त्व का पुष्प के द्वारा, वायु तत्त्व का धूप के द्वारा, अग्नि तत्त्व का दीप के द्वारा एवं जलरूपी अमृत तत्त्व के द्वारा नैवेद्य का समर्पण

करते है। षडुपचार में छठा द्रव्य समष्टि रूप आ जाता है और वह ताम्बूल के द्वारा अर्पित होता है। षोडशोपचार में वस्तुतः इन छह उपचारों को समेटते हुए कुछ अन्य उपचार भी होते हैं, जिनका यथास्थान ग्रन्थ में वर्णन किया गया है। पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन—ये मिलकर सोलह उपचार हो गए। फिर दूसरा भी अर्थ है कि चन्द्रमा की सोलह कलाएँ होती है। अंतिम कला अदृश्य होती है और उसका नाम अमृता है। वेदों में पुरुष को भी 'षोडशकल' कहा गया है—**षोडशकलोऽयं पुरुषः** सोलह उपचारों के द्वारा सोलह कलाओं से सम्पन्न पूर्णतत्त्व की प्रस्थापना ही अभीष्ट है। अन्त में नमस्कार निवेदित करने के लिए पुरुष सूक्त में भी सोलह मन्त्र हैं उन मन्त्रों का विनियोग विविध पुष्पाञ्जलि में होता है—

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।

मन्त्र का अर्थ यह है कि देवताओं ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया, वे ही प्रथम धर्म हुए। प्रथम धर्म का अर्थ यह है कि समस्त धर्मविधि के वे ही आधार हुए। इसका तात्पर्य है कि सर्वभाव से सर्वमय की आराधना सर्वद्रव्यों से की जानी चाहिए और यह भाव जितना पूजा के समय रहे उतना ही दैनन्दिन व्यवहार में भी रहे। जब विचार मन में समा जाते है, विशेष रूप से जब मन्त्र श्वास–प्रश्वास के साथ एकाकार हो जाते है तब जो भी आदमी करता है, अहङ्कार छोड़कर करता है। सर्वात्म होकर करता है और उसका लक्ष्य भी सर्वात्मता लाभ है इसीलिए *छान्दोग्य उपनिषद्* में घोर आङ्गिरस ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को उपदेश दिया कि पूरे जीवन को यज्ञ मानो और अमर हो जाओ। मृत्यु तब अवभृथस्नान हो जाएगी और तब यदि नया जन्म होता है तो अहङ्कार के विसर्ग का पूरा संस्कार लेकर होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में ही एक महीदास ऐतरेय है, उसमें पूरे जीवन को सोम के सवन ही चार अवस्थाओं के रूप में दिखलाया गया है। उपासना वस्तुत: देवऋण को चुकता करना है। तीसरा ऋण है, देव–ऋण। इसका शोध लोग मानते हैं कि वानप्रस्थ आश्रम से और यज्ञ–उपासना आदि से होता है, किन्तु देवता की भावना जिस रूप में हिन्दू धर्म में है, वह जीवन के प्रत्येक क्षण के साथ जुड़ी हुई है। प्रत्येक स्थान, प्रत्येक परिधि, प्रत्येक बाह्य और अभ्यन्तर क्षमता का एक देवता होता है और प्रत्येक क्षण या प्रत्येक कण के साथ आदमी जब अपने को इस भावसे जोड़ना चाहता है कि उस क्षण और कण के आगे वह छोटा है. उस क्षण और कण में भी कोई विशेषता है, जिसे उसे पाना है और विनम्र होकर छोटा होकर ही यह पाना सम्भव है, तब–तब वह देव–ऋण चुकाता रहता है। जिस क्षण वह विशिष्टता से जुड़ने के लिए विनम्र होता है, उसी क्षण उसे देवत्व की दीक्षा लेनी पड़ती है। उसी शरीर में वह उस एक क्षण के लिए वह देवता हो जाता है और फलस्वरूप अपनी बाह्य स्थूलता से और अपने भीतरी दुराव की सीमा से विलग हो जाता है। यज्ञ का अर्थ है, देवता के लिए इष्ट द्रव्य का त्याग, अर्थात् जो वस्तु अपने को अतिशय प्रिय हो उसको देवता को इस भाव से अर्पित करना कि यह तुम्हारे लिए प्रिय हो और यह वस्तु भाव 'मेरेपन' (ममकार) से न जुड़ी रह जाये।

इस प्रकार यज्ञ के अनुष्ठान में मनुष्य और देवता के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह बाह्य और आभ्यन्तर सृष्टि को नयी सार्थकता देता है। ज्यों-ज्यों यज्ञ का विस्तार हुआ, त्यों-त्यों यज्ञ करने वाले के संसार का विस्तार हुआ और पूरा संवत्सर (कालचक्र) यज्ञ हुआ, पूरी सृष्टि यज्ञ हुई, पूरी सामाजिक व्यवस्था यज्ञ हुई और एक ऐसे पुरुष–मेध की अवधारणा विकसित हुई, जिसमें विराट्-पुरुष के रूप में यह सृष्टि ही यज्ञ का उपकरण बनी। देवता यजमान बने और यज्ञरूप परब्रह्म ही देवता बना। इस प्रकार यज्ञ की भावना का अर्थ ही ब्रह्म ही भावना हो गया। एक प्रकार से यज्ञ संस्था हिन्दू समाज संस्था की आधारशिला है। आज के हमारे सभी अनुष्ठान, हमारे मन्दिरों का स्थापत्य, हमारे घरों का स्थापत्य, हमारा पूरा जीवन किसी न किसी रूप में, यज्ञ के किसी न किसी रूप, आकार या अर्थ से जुड़ा हुआ है।

उपासना का अर्थ हैं[1], पास बैठना, समीप होना, आत्मीय होना। देवता के साथ मनुष्य का सम्बन्ध हिन्दू जीवन-दर्शन में परस्पर सहयोगी का सम्बन्ध है। मनुष्य ही सहभोक्ता का अभ्यास करते-करते ऐसी ऊँचाई पर पहुँच जाता है कि देवता उसके आगे दीन बन जाते है और वही देवता मनुष्य की दुर्बलता में उसके आह्वान पर उसके सहायक बन जाते हैं। हिन्दू धर्म में देवताओं की अपेक्षा असुर शक्तिशाली रहे हैं, पर देवताओं को इस कारण बड़ा और आराध्य माना गया है कि उनमें अच्छा रास्ता फिर से पकड़ने का विवेक होता है, असुर सुरों की अपेक्षा अधिक प्राणवान् हैं, अधिक मेधावी हैं, शक्तिशाली हैं, वे उद्यमी भी हैं, परन्तु असुर बुरे रास्ते को एकमात्र रास्ता मानने का अविवेकपूर्ण दुराग्रह रखते हैं, इसीलिए तिरस्करणीय हैं, हेय हैं, त्याज्य हैं। अविवेक के प्रति कृतज्ञता नहीं होती, होती है विवेक के प्रति, क्योंकि विवेक जगाकर ही मनुष्य भटक-भटककर भी अच्छे रास्ते पर आता रहता है। देव-ऋण विवेक के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन से परिशोधित होता है, क्योंकि देवत्व के स्मरण के द्वारा ही हम अपने सत् का, सत्य का, प्रकाश का, दूसरे के सत् का, दूसरे के प्रकाश का स्मरण करते हैं। देव-ऋण से मुक्ति का अर्थ केवल बाह्य अनुष्ठान नहीं, बल्कि अपने भीतर सुप्त देवता का आह्वान भी है। मनुष्य के प्रत्येक अङ्ग में देवता का निवास है। बाह्य अनुष्ठान आवश्यक इसलिए माना जाता है कि एक तो बाह्य से कटकर कोई आभ्यन्तर है नहीं, दूसरे बाह्य अधिक सुगम है। साधारण आदमी उसी द्वार से भीतर की ओर प्रवेश कर सकता है। देव-ऋण से बँधे रहने का भाव आदमी को निरन्तर यह स्मरण दिलाता रहता है कि कोई क्षण नहीं जो पवित्र न हो, कोई स्थान नहीं जो पवित्र न हो, कोई वस्तु हेय नहीं, क्योंकि हर वस्तु में कहीं न कहीं देवत्व है। साथ ही जिस क्षण जो वस्तु पवित्र है, उस क्षण उसकी तरह कोई दूसरी वस्तु पवित्र नहीं है। प्रत्येक में अपनी एक अद्वितीयता है। सभी वस्तुएँ एक ही सनातन भाव की ओर अग्रसर हैं, किन्तु अनुभव-गोचर रूप में सबकी विविधता और सबकी अद्वितीयता भी विशिष्ट मूल्य रखती है। यह बात अत्यन्त एकत्ववादियों की समझ में नहीं आ सकती, इसीलिए वे हिन्दू को

1. उप+अस = समीप जाकर बैठना। अत: उपासना का अर्थ है, सामीप्यप्राप्ति का प्रयत्न। उपनिषद् का भी यही अर्थ है। किसी से उसका अनुग्रह उसके आत्मीय हुए बिना नहीं पाया जा सकता। यह सामीप्यप्राप्ति इसीलिए नतमुख होकर ही सम्भव है।

बहुदेववादी समझते हैं। वे लोग यह बात भूल जाते है कि हिन्दू अपने देवता को परोक्ष-प्रिय मानता है[2], वह जिस भी रूप में देवता को सामने रखता है, उस रूप की ओट में ही देवता रहता है, जिसकी मूर्ति के आगे नमन करता है, देवता उस मूर्ति में न रहकर उसके द्वारा ध्याये गये अर्थ में रहता है। इसलिए हिन्दू देववाद जड़वाद नहीं है, स्थूल वस्तुवाद नहीं है, प्रत्येक जड़ में चैतन्यमयी स्फूर्तिदायिनी शक्ति की सक्रियता देखने वाली एक जीवन-दृष्टि है। इसलिए न तो देवता की आराधना का कोई निश्चित एक प्रकार है, न कोई निश्चित स्थान है। उसके अनेक प्रकार, अनेक स्थान,अनेक विधियाँ और अनेक अवसर हैं। प्रत्येक अवसर, या प्रत्येक स्थान, या प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता के अनुरूप देवता और उसकी उपासना का विधान है। किसी के लिए नाम का जप पर्याप्त है, किसी के लिए कीर्तन, किसी के लिए आत्मविभोर नृत्य, किसी के लिए शिल्प, किसी के लिए यज्ञ, किसी के लिए तप और किसी के लिए बड़े विशद अनुष्ठान के साथ पूजा। देवता की पूजा-कामना से भी की जा सकती है, निष्काम भाव से भी की जा सकती है। कामनापूर्वक की गयी पूजा आदमी को बाँधती है, पर निष्काम भाव से की गयी पूजा आदमी को मक्त रखती है। इस प्रकार निष्काम भाव से देवता का सान्निध्य पाने का भाव हिन्दू के लिए भ्रम, या नशा, या हिन्दू कहलाने की औपचारिकता नहीं है, वह उसकी आवश्यकता है, किन्तु तभी जब आवश्यकता का अनुभव करे, जबतक न करे तबतक वह जो भी देवोपासना करेगा, वह भावहीन होगी। देवोपासना एक विशेष प्रकार की विश्व-दृष्टि की भावना से जुड़ी है और एकान्त रूप से वानप्रस्थ आश्रम में साधारण जन (वैश्य-विश् = बैठना, वैश्य = एक जगह जमकर काम करने वाला) बनकर, वन के सहज जीवन में प्रकृति के परिवेश से अन्तरंग सम्बन्ध जोड़ने पर यदि आदमी देवोपासना करता है तो इससे देवोपासना सीमित नहीं होती है। यह मनुष्य को सृष्टि में मूर्धन्य या विशिष्ट बनाने के अभिप्राय से नहीं, वरन् सामान्य और विनीत बनाने के भाव से की जाती है, ताकि मनुष्य अपने को परिवेश का स्वामी न समझे, अपने को परिवेश का एक अङ्ग समझे। वह अपने ऊपर विजय प्राप्त करने पर बल दे, अपने को नियन्त्रित करने पर बल दे, परिवेश के नियन्त्रण की बात न सोचे, वह परिवेश के साथ समरसता और सन्तुलन के मार्ग की निरन्तर खोज करे, जिससे उसके लिए परिवेश सुखद हो, समरस हो और उस परिवेश में जीना अर्थ रखे। देवोपासना वस्तुत: अपने आस-पास शक्ति के विकिरण को ग्रहण करने का एक प्रकार है, बिना यह ग्रहण करना सीखे आदमी अपने देवता से उऋण नहीं होता।

देवयज्ञ देवताओं के निमित्त प्रात: और सायं दी गयी आहुतियों से सम्पन्न होता है। प्रत्येक आहुति के अन्त में **स्वाहा** और **इदं देवाय न मम**, कह कर 'अब यह मेरा नहीं' का भाव, ममकार के त्याग का भाव भावित किया जाता है। भूतयज्ञ का ही नाम बलिवैश्वदैव भी है। अन्न-भोजन के पूर्व अन्न का कुछ भाग समस्त देवताओं और समस्त प्राणियों को अर्पित किया जाता है, जिससे अपने स्वयं की अन्न की तृप्ति समस्त प्राणिलोक की तृप्ति बने। देखने में यह ढोंग लगे, पर जो व्यक्ति यह समझ जाता है कि इस अन्न में अकेले मेरा

2. क. परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः (*वृहदारण्यक उपनिषद*,4-2-2) ख.परोक्षकामा हि देवा (*शतपथ ब्राह्मण*, 6-1-1-2) ग. परोक्षप्रिया इष्टिदेवाः (*ऐतरेय ब्राह्मण*, 3-33)

हिस्सा नहीं है, वह किसी भी प्राणी को भूखा देखकर स्वयं अन्न नहीं ग्रहण कर सकता है। नृयज्ञ या मनुष्य-यज्ञ का दूसरा नाम अतिथि-यज्ञ भी है। जो भी मनुष्य दरवाजे पर आ जाये, वह वैश्वानर है, विष्णु है नारायण है, केवल नर नहीं। उसे खिलाये बिना स्वयं खाना मनुष्य-यज्ञ के साथ अपघात करना है।

इन पञ्च महायज्ञों का निष्ठापूर्वक पालन आज भी बालिद्वीप में होता है, वहाँ प्रतिदिन बिना भूत-यज्ञ का अनुष्ठान किये हुए कोई भी गृहस्थ घर में अन्न नहीं ग्रहण करता। भूत-यज्ञ में देश-काल दोनों का सम्पूर्ण स्मरण होता है। दस दिशाओं और तीन कालों को एक साथ देखने पर इसमें बल दिया जाता है, आभ्यन्तर और बाह्य दोनों ही सत्ताओं के तादात्म्य की भावना की जाती है, बाह्य परिवेश से सामञ्जस्य की साधना की जाती है। इन यज्ञों के द्वारा मनुष्य विनम्रता, अकिंचनता और परार्थता का अभ्यास करता है और अपने भीतर एक नया आपूरण-विश्वास दिन-प्रतिदिन भरता है। इन समस्त यज्ञों को भी संस्कार माना गया है, क्योंकि इनकी भावना से जीवन नया होता रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने *गीता* में यह उपदेश दिया कि—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। *(गीता **1/24**)*

अर्थात् ब्रह्म होकर व्यक्ति अर्पण करता है, जो हवि अर्पण करता है वह भी ब्रह्म है, जिस अग्नि में अर्पण करता है वह भी ब्रह्म है, जिसे अर्पण करता है वह भी ब्रह्म है और अर्पण का व्यापार भी ब्रह्म है, बस एक शर्त है, अर्पण करते समय मन एकाग्रभाव से यह सोचता रहे कि यह अर्पण ब्रह्म होने की प्रक्रिया है। इस उपदेश के पीछे उनकी गहरी तत्त्वसाधना है। उन्होंने अपने गुरु घोर आंगिरस से गुह्य ज्ञान की ज्योति पायी, इसका उल्लेख बड़ी काव्यमय भाषा में *छान्दोग्य उपनिषद्*[3] में मिलता है—

"यह आदमी जो है न, जब उसे भूख लगी होती है, प्यास लगी होती है, कहीं उसे चैन नहीं पड़ता है, उस समय वह जीवन यज्ञ में दीक्षा ले रहा होता है। दीक्षा की शर्त है खाली होकर भरने की आकांक्षा करना।"

जब वह खाता है, पीता है और उसका मन रमने लगता है, तब समझना चाहिए कि वह यज्ञ वेदी के पास पहँच गया। जब वह हँसता है, जब वह भोग को आत्मसात् करता है, जब वह अपने संसार को नष्ट करता रहता है, जब वह दो का एक होता रहता है, जब वह स्त्री-पुरुष संयोग के अद्वैतात्मक क्षण में प्रविष्ट होता रहता है, रूपक की भाषा में निगीर्ण होता और निगीर्ण करता रहता है, तब वह यज्ञ में शस्त्र और स्तोत्र नामक मन्त्रों के उच्चारण के साथ यज्ञ के भीतर अग्निसात् हुआ, यह मानना चाहिए और इस यज्ञ की दक्षिणा के रूप में इस जीवन-यज्ञ के उस कर्ता को जिसने अपने को इस जीवन में झोंका और अपने को अलग रखा – दक्षिणा के रूप में मिलते हैं तप, दान, आर्जव (सबसे सीधा भाव रखना), अहिंसा और सत्य। एक प्रकार से यह यज्ञ पुनरुत्पादन है, नया जन्म है, इस भावना से जिया गया जीवन मृत्यु है अहंकार का। इसीलिए यज्ञ

3. *छान्दोग्य उपनिषद्*, 3. 17

के बाद स्नान करना इस जीवन का अवभृथस्नान है। पूरा जीवन लिया गया यज्ञ पूरा हुआ, पुन: संसार में प्रवेश करने से पूर्व अवभृथ स्नान होता है, वही मृत्यु है। [एक यज्ञ का देहरूप परिधान उतरा, नये परिधान धारण करना है। हाँ, दक्षिणा जो टेंट मे बँधी थी, वह सहेज कर रख लेनी चाहिए।]

यही विद्या घोर आंगिरस ने देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को सिखायी और उनकी प्यास बुझ गयी, जिससे अंतबेला में उन्हें यह ज्ञान बना रहे—तुम्हारा कोई घर नहीं, तुम अक्षत हो, तुम्हारा कुछ नहीं घटता, तुम अच्युत हो, प्राण तुम्हें और सान पर चढ़ाते रहते हैं, तुम प्राणसंशित हो। मृत्यु प्राचीन बीज का नया अंकुरण है। हम अंधकार के पार जाते रहें, बराबर आगे की ज्योति से देखते रहें, आत्मरूप प्रकाश से आगे देखते रहें—यही देवता होना है, क्योंकि इसी मार्ग से देवता परम प्रकाश के पास पहुँचते रहे हैं।

श्रीकृष्ण का जीवन इसी प्रकार का यज्ञ है और उस यज्ञ से अभिभूत है उत्तरवर्ती हिन्दू धर्म। यहाँ एक ऐतिहासिक सन्दर्भ और देना आवश्यक है। पहले चर्चा की जा चुकी है कि ब्रह्मपरक और आत्मपरक चिन्तन उपनिषद् और *श्रीमद्भगवद्गीता* में एक बिन्दु पर मिल गए हैं। इसका क्रम सम्भवत: इस प्रकार रहा होगा—मन्त्रवाचक ब्रह्म, मन्त्र से मन्त्रवक्ता, मन्त्रवक्ता से यज्ञ हुआ, यज्ञ से समस्त सृष्टि हुआ, क्योंकि सृष्टि का उद्भव बिना विराट् पुरुष के द्वारा अपने को यज्ञीय वस्तु के रूप में, पशु के रूप में अर्पित किये होता तो वह मनमानी सृष्टि होती। वह सृष्टि सोद्देश्य नहीं होती,वह विराट् सत्ता की लीला का अधिष्ठान न होती। इस तरह अर्थ-विस्तार के द्वारा और यज्ञ के प्रतीकार्थ की गहरी सामाजिक और आध्यात्मिक व्याख्या के निरंतर अभ्यास के द्वारा ब्रह्म का अर्थ हुआ चर-अचर समस्त सृष्टि, समस्त व्यापार, समस्त स्तरों की चेतना, समस्त ऐंद्रिय और अतींद्रिय जगत् और उस समस्त में देखनेवाला, समझने वाला भी, क्योंकि उस समस्त से एकाकार हुए बिना वह यज्ञ कर ही नहीं सकता। इस ब्रह्म के साक्षात्कार की प्रक्रिया में देवता स्वयं ब्रह्मभाव के अभ्यर्थी हो गये, देवता यज्ञ करने वाले हुए, यज्ञ के प्रथम प्रतिष्ठापक हुए, वे इस सृष्टि के लिए विसृष्ट हुए (अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन, *ऋग्वेद* के नासदीय सूक्त में ही यह विचार पल्लवित हो चुका था) मनुष्य का स्थान ऊँचा हुआ, क्योंकि यज्ञ की इस विस्तृत भावना का विकास करने वाला ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म होने की ओर उन्मुख हुआ (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति)।

यज्ञ के रहस्य का साक्षात्कार ब्राह्मणों और उपनिषदों में बहुत क्रमिक था। इसका एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष आनन्द और अमृतत्व की प्राप्ति भी था। यज्ञ में सोम और अग्नि का संबंध रहस्यान्वेषण का माध्यम बना, सोम अग्निसात् हो जाता है, अग्निमय हो जाता है और अग्नि भी सोम पीकर सोम बन जाता है, सूर्य अमावस्या को चंद्रमा को आत्मसात् कर लेते हैं, तो सूर्य और चन्द्र का एकीकरण हो जाता है, यही अमावस्या है, दो प्रेमियों का एकीकरण है, द्यौः और पृथ्वी का, वाङ् और मन का, व्यक्त और अव्यक्त का एकीकरण है। अपने को पूर्ण रूप से विनष्ट करके ही प्रजापति अपने शरीर को विश्वभाव के लिए अर्पित करते हैं तो सृष्टि उत्पन्न होती है, यज्ञ प्रथम धर्म होता है, मनुष्य भी उसी का अनुकरण करता है अर्थात् सृष्टिकर्ता की भूमिका

में अपने को स्थापित करता है। यज्ञ इस प्रकार सर्जनात्मक व्यापार होता है और इसीलिए यह निरतिशय आनन्द देता है, इस व्यापार से गुजरकर भीतर का वृत्र (अंधकार) मर जाता है और दूसरे के लिए सोचने वाला प्रकाशित होकर बाहर आता है।

इस यज्ञ-चिंतन में ही इस प्रकार आत्मचिंतन के बीज पड़े। अग्निचयन-विद्या का जब विकास हुआ तो उसमें प्रतीक रूप में पुष्करपर्ण पर हिरण्मय पुरुष के रूप में प्रजापति की स्थापना हुई और ईंटें (इष्टकाएँ) शंक्वाकार स्तूप के रूप में चारों ओर चिनी गयीं। इस चिंतन को बल मिला, बाह्य अनुष्ठानों की उपेक्षा करके शरीर को और मन को साधने वाले योगियों से। यह नहीं है कि योग की अवधारणा यज्ञ में नहीं थी, पर वह योग का बहिःक्षेप, उसका मुँह बाहर था। योग का मूल अर्थ था जोतना, शरीर के रथ में इंद्रियों के घोड़ों को जोतना या दूसरे शब्दों में, अपने को समझदारी के साथ शरीर की चेष्टाओं के नियंत्रक की भूमिका में डालना। इसका अर्थ दमन नहीं है, इसीलिए यह क्रमशः यम से समाधि तक पहुँचता है। समाधि की अवस्था में योग केवलीकृत, परिशुद्धीकृत आत्मा से जुड़ना या मिलन हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति प्राप्त कर लेने पर आदमी जो करता है, जो रचता है, उसमें उसके रागद्वेष, उसको बाँधने वाली सीमाएँ, उसका कलुष, उसका छुटपन—ये सब नहीं रहते, उसकी आसक्ति नहीं रहती, वह रचते हुए, देते हुए, गढ़ते हुए, काम करते हुए बराबर उस कार्य में अपने को जोते रहता है, वह फल में नहीं कर्म में तल्लीन रहता है, इसलिए उसे कौशल या कुशलता प्राप्त होती है। इस कौशल को भी योग कहा गया। इस प्रकार योग की साधना ने शरीर को, देह को महत्त्व दिया। बाद के तंत्रग्रन्थों में इसे परम उत्कर्ष तक पहुँचाया। परशुराम कल्पसूत्र में कहा गया : **"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तद्धि देहे व्यवस्थितम्"** (आनन्द, जो ब्रह्म का अभिव्यंजक रूप है इसी देह में विशेष रूप से अवस्थित है।) यह शरीर आनन्द का, आनन्द-रूप परमात्मा का विग्रह है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्*[4] में योग के अनुभव का वर्णन इस प्रकार मिलता है—पहले कुहासा छाया दीखता है, फिर धुआँ दीखता है, फिर कई प्रकार के प्रकाश दीखते हैं-सूर्य का प्रकाश, अग्नि का प्रकाश, जुगुनू का प्रकाश, विद्युत् का प्रकाश, स्फटिक का प्रकाश और निर्मल शशि का प्रकाश। भीतर ये प्रकाश ही यह तादात्म्य स्थापित करते जाते हैं कि वह मैं हूँ 'सोऽहम्'। योग का बाहरी लक्षण है हलकापन, स्वस्थता, ललक का अभाव, चेहरे की प्रसन्नता, स्वर में सौष्ठव, शरीर से सुगंधि निकलना, मल-मूत्र की प्रवृत्ति कम होना।

जैसे कोई प्रकाशमान बिम्ब हो, उस पर मिट्टी लेप दी गयी हो, उसे कोई धोकर सामने रख दे, उसी प्रकार योगी अपने स्वरूप का, प्रकाशमान आत्मा का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाता है, फिर कोई दुःख-शोक नहीं रहता।"

योग की इस धारा ने शरीर के भीतर ब्रह्माण्ड का दर्शन किया और इसने बाह्य अनुष्ठान को आभ्यंतर अनुष्ठान बनाया, प्राणों में आहुति का अभ्यास कराया। बाह्यानुष्ठान के विकास, अग्निचयन के रहस्य के

4. *श्वेताश्वतर उपनिषद्*, 2.11,2.13-14

अभ्यास और योग के विकास की परिणति हुई ब्रह्मात्मैक्य में, ब्रह्म और आत्मा की एकता की स्थापना में। उपनिषदों ने पुकारा—वह तुम हो (तत्त्वमसि), बाहर जो कुछ फैला हुआ या फैलाने वाला व्यापार या सत्ता या भाव देख रहे हो, तुम हो; समस्त भूत तुममें है और तुम सबमें हो। यज्ञ और योग के संयोग से हमारी उपासना-पद्धति विकसित हुई, कायशुद्धि, चित्तशुद्धि और वाक्शुद्धि उपासना के लिए आवश्यक हुई।

एक ओर यज्ञ के बाहरी वितान ने उत्तरकालीन मंदिर को आकार दिया जिसे इसके साथ दिये गये तुलनात्मक चित्र से समझा जा सकता है तो दूसरी ओर यज्ञ के प्रतीकार्थ चिंतन ने षोडशकलाओं वाले पुरुष की पूर्वभावना के लिए षोडशोपचार पूजन की व्यवस्था विकसित की, इसीलिए षोडशोपचार पूजन में 'पुरुषसूक्त' के मंत्रों का विनियोग प्रचलित हुआ। योग ने उपासना में ही प्रत्युत प्रत्येक अर्पित कर्म में प्राणायाम और ध्यान का समावेश कराया। यज्ञ-संस्था का अवदान है, बाह्य भौतिक संसार का महत्त्व और विश्व अखण्डता पहचनवाने में, यज्ञ संस्था में भौतिक ऐंद्रिय सुखों का तिरस्कार नहीं था, वह भाव हिन्दू धर्म में यज्ञ-संस्था के उपासना और कर्म में रूपांतरित हो जाने पर भी बना रहा। इस संस्था ने आशा और विश्वास की दृढ़ भित्ति तैयार कर दी, जिससे सूर्य की उपासना प्रात:काल जब व्यक्ति करे और सूर्य को संबोधित करे कि तुम तमोमलिन दिशाओं के पुण्डरीक हो, तब मन में यह आशा रखे कि मैं मनुष्यों में पुण्डरीक हूँगा।[5] पुंडरीक होने का अर्थ है सर्जक होना, आनन्दप्रद होना और गहरी जड़ों वाला होना। यह आकस्मिक नहीं था कि हमारे समस्त कला-अभिप्राय पुण्डरीक के ही किसी न किसी रूप में विकसित अभिव्यक्तियाँ हैं, जैसे कि एफ. डी. के. बाश ने अपनी *द गोल्डेन जर्म* पुस्तक में विस्तार से प्रतिपादित किया है। यज्ञ-संस्था का दूसरा अवदान यह है कि आदमी जब खाता है, पीता है तो अन्न और रस से अक्षय तृप्ति पाता है कि "हम भोजन करें, हम रस पियें, हमारे लिए वरुण, प्रजापति और सविता अन्न लायें हे अन्नपते, अन्न लाओ, लाओ अन्न"।[6] आगे जब भक्ति का विकास हुआ तो अन्न प्रसाद हो गया। देवता की प्रीति उसमें समाविष्ट हो गयी। अतिशय वैराग्य को महत्त्व देने वाले लोग इस भाव को कुछ हीनभाव मानते हैं, पर यही जीवन का स्वीकार है।

यज्ञ-संस्था और योग-संस्था दोनों का एकीकरण एक नया मूल्य-संतुलन लाया, व्यक्ति के विकास और समष्टि की निरंतर भावना और दोनों का समन्वय इससे हो सका। ये दोनों संस्थाएँ हमारे जीवनक्रम के प्रत्येकक्षण को उद्भासित करने लगीं। हिन्दू उपासना में चाहे कितने भी तत्त्व क्यों न मिले हों (और सामान्य लोक की आदिम श्रद्धाभिव्यक्ति के तत्त्व मिले, यह हिन्दू धर्म के लिए गौरव की बात थी, वह कभी भी उच्चवर्ण की सम्पत्ति नहीं रहा), उसका प्राणभूत तत्त्व है आत्मशुद्धि द्वारा विश्वात्मा की व्यापकता का साक्षात्कार। मनोवाक्कायशुद्धि के अनंतर जब व्यक्ति सर्वभूतात्मा का साक्षात्कार करता है और उसे प्रणाम निवेदन करना चाहता है तो उसे लगता है—"उसकी सब तरफ आँखें हैं, सब ओर मुख है, सब ओर बाँहें

5. *वृहदारण्यक उपनिषद्*, 6.3.4.6
6. *छान्दोग्य उपनिषद्*, 1-12-5

हैं,अपनी बाँहों में सब घेरता रहता है, वह एक है, वही स्फुरण-मात्र से आकाश और पृथ्वी की सृष्टि करता है।" इस एकता का साक्षात्कार उसे प्रणाम करने वाला नहीं रहने देता, उसे साक्षात् प्रणम्य परमात्मा उस एक क्षण के लिए बना देता है। यह उपासना कहीं भी की जा सकती है, उस स्थान को शुद्ध करना होता है, भौतिक रूप से, मन्त्रोच्चारण से और मानस भावना, तीनों से। मंदिर में की जाये, पवित्र तीर्थ में की जाये, अरण्य में की जाये, पर सर्वत्र एक सौष्ठव और सामंजस्य होना चाहिए, एक अनुपात होना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यज्ञवेदी और अग्निचयन की स्तूपाकृति दोनों मिलकर मंदिर के आयाम बने, अग्निचयन के स्तूप में ज्यों-ज्यों ऊपर जाते हैं, त्यों-त्यों आकार छोटा होता चला जाता है और यह आरोह क्रमिक होता है। हिन्दू उपासना भी क्रमिक साधना है, धैर्य माँगती है, कोई वादा नहीं करती कि बस तुम्हें छुट्टी मिल गयी, तुम्हें कुछ नहीं करना है; बराबर कहती रहती है, आत्मदीप बनो, अपने उद्धारकर्ता स्वयं तुम बनो। प्रत्येक व्यक्ति शुरू से ही अव्यक्त का ध्यान नहीं कर सकता, इसलिए 'धियालंबध' के रूप में उसे व्यक्त से प्रारंभ करना पड़ता है, पर वह व्यक्त भी ऐसा होता है जो अव्यक्त का आभास कराता है। हिन्दू मंदिर बाहर की बहुरंगी विविधता और गर्भगृह की निविड़ शांति और सघन एकरसता के द्वारा उस परम तत्त्व की दुहरी भाववत्ता का ही विग्रह है, वह देवता का गृह-मात्र नहीं, स्वयं देवता है, चर-अचर सृष्टि का एक कला के भभके से खींचा हुआ मादन रस है।

उपासना, अर्चा और पूजा – ये तीन शब्द मिलते है। उपासना में गुरु के समीप बैठकर रहस्य में प्रवेश किया जाता है, अर्चा आकार की होती है, पूजा प्राणाविष्ट आकार की होती है। अब सब एकाकार हो गये है। दैनन्दिन सन्ध्योपासन में एक ओर वैदिक मंत्रों का पारायण है। इनमें मुख्य मन्त्र हैं, सृष्टि मन्त्र (ऋतं च सत्यं च...), पापक्षपन मन्त्र (सूर्यश्च...), पवित्रीकरण मन्त्र (आपो हिष्ठा...तथा द्रुपदादि...), गायत्री मन्त्र और सूर्योपस्थान मन्त्र। सृष्टिमन्त्र का अर्थ है - "तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए, उसके बाद अव्यक्त सृष्टि - यह समुद्र (यहाँ दृश्य जल से अभिप्राय नहीं) हुई, इससे संवत्सर उत्पन्न हुआ (सावधि काल का बोध हुआ), आत्मवशी प्रजापति ने तब दिन-रात पलक झँपाते-झँपाते पैदा किये। उन्होंने पूर्वसृष्टि के अनुसार सूर्य और चंद्रमा को उत्पन्न किया। अंत में द्युलोक, अंतरिक्ष और भूमि का विभाजन हुआ।" इस मन्त्र का प्रयोजन प्रतिदिन सृष्टि व्यापार का अनुध्यान है।

पापक्षपन मन्त्र का तात्पर्य है कि "(प्रात:) सूर्य [(सायं) अग्नि], आवेग और आवेगों के स्वामी आवेशजन्य पापों से रक्षा करें, रात्रि में (प्रात:काल की संध्या में) या दिन में (सायंकाल की संध्या में) जो कुछ इंद्रियों और मन से पाप हुए हों, उन्हें मैं अमृतयोनि, सूर्य की ज्योति में आहुति के रूप में सौंपता हूँ।" यह मन्त्र पाप का स्वीकरण तक ही सीमित नहीं है, पाप का समर्पण भी है, पाप के रूप में अपने ही अंश की आहुति है।

पवित्रीकरण मन्त्र में जल (जो अव्यक्त सृष्टि का प्रतीक है) से कल्याण कामना की जाती है कि "हे जल देवताओं, हमारे लिए कल्याणकर हो, हमें ऊर्जस्वी बनाओ, हमें महनीय और दर्शनीय बनाओ। जो तुम्हारा

शिवतम रस है, उसमें हमें हिस्सा मिले, तुम हमारी उदार माताएँ हो, हम आपकी कृपा से श्रेष्ठतर हों, तुम हमें पुनरुत्पन्न करो।" जल अर्थात् अव्यक्त आद्याशक्ति का यह ध्यान अपनी सुषुप्त शक्ति का ध्यान है।

तीसरा शुद्धीकरण मन्त्र भी पापशोधन-मन्त्र है, इसमें ध्यान किया जाता है, 'जैसे पसीने में सराबोर आदमी नहाकर निर्मल हो जाता है, जैसे आग में तपाने पर घी निर्दोष हो जाता है, वैसे ही जलदेवता संचीयमान मल को दूर करके हमें शुद्ध करें।'

लगेगा कि पाप का बड़ा दबाव है, पर वास्तविकता यह है कि यह सब भूमिका है सावित्री उपासना की। सविता अर्थात् जगत् की प्रेरक शक्ति को अर्घ्य देना है, सूर्य के रूप में जो उसका प्रकाश जीवन को खोल रहा है, उसके सम्मान में खड़ा होना है (उपस्थान करना है), इसलिए कलुष-मुक्त होकर सावित्र होना उचित है। यह अर्घ्य गायत्री मन्त्र से दिया जाता है। गायत्री मन्त्र का रहस्य बहुत विशद है, वह एक वाक्य में बाहर के प्रेरक और प्रसरणशील प्रकाश को भीतर की बुद्धि के प्रेरक और गतिशील प्रकाश से जोड़ता है, बाहर इतना यकायक प्रकाश का भरना भीतर एक आकुलता पैदा करना है कि वहाँ भी प्रकाश उमड़ पड़े, जिससे जो भी इंद्रियाँ काम करें वह काम उस प्रकाश से प्रेरित हो।

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

इस गायत्री मन्त्र में ॐ भूः भुवः और स्वः ये व्याहृतियाँ इसलिए जोड़ी जाती है कि ॐ से अनादि सृष्टि को समेटते हुए भूः भुवः स्वः से तीनों भुवनों को समेटने वाला प्रकाश गृहीत हो। सूर्योपस्थान के चार मन्त्रों का क्रमशः अर्थ यह है कि—

"1. हम अपने आगे उत्तरोत्तर प्रकाश देखें और उस सूर्य (स्वररूप ज्योति) को प्राप्त करें।

2. ये जो लाल-लाल रोशनी के झंडे सुबह-सुबह दीख रहे हैं, वे बस बता रहे हैं कि सूर्य आ रहा है।

3. देवताओं का अग्रणी (या मुखिया) मित्र, वरुण और अग्नि का नेत्र उदित हुआ, उसने आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को चर, और अचर को भर दिया।

4. उसकी ओर, जो देवताओं में वर्तमान है, यह कहते हुए अभिमुख हों, हम तुम्हें इसीप्रकार उदित होते हुए सौ बरस देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस इसी तरह तुम्हारा स्वागत करें, सौ बरस तुमसे भरकर हम किसी के आगे दीन न बनें, सौ ही क्यों, उसके बाद सैकड़ों वर्ष यही निरन्तर ज्योतिः साक्षात्कार होता रहे।"

ये चारों मन्त्र जीवन में प्रकाश और उल्लास के मन्त्र हैं। सन्ध्योपासन का यही चरम तात्पर्य है। इसके बाद पाना नहीं रहता है, बस सावित्री को टिकाना रहता है और इसके लिए गायत्री जप सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

सन्ध्योपासन के अनन्तर देव, ऋषि और पितरों का तर्पण होता है, सांख्य और योगविद्या के प्रवर्तक आचार्यों का विशेष रूप से तर्पण होता है, बलिवैश्वदेव होता है, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। उसके

अनंतर जिसका जो उपास्य देव हो, उसका मन्त्र जपे, उसका स्तोत्र पढ़े, उसकी लीला गाये। चाहे तो इष्टदेवता का पूजन करे। यह पूजन षोडशोपचार किया जाता है तो इसमें इतने अङ्ग होते हैं—आसन, स्वागत, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, सुगन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, माल्य, नमस्कार और विसर्जन। और संक्षिप्त करना है तो पञ्चोपचार के दो हैं—पहला : ध्यान, आवाहन, नैवेद्य, आरती और प्रणाम और दूसरा : गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य। कुछ लोग गन्ध के पूर्व पाद्य और जोड़ देते हैं। वस्तुतः षोडशोपचार पूजन में आराध्य के षोडशकल दिव्यवपु का निर्माण ही उद्दिष्ट होता है। मंदिर में पूजा होती है, तब या प्राणप्रतिष्ठित प्रतिमा के पूजन में आवाहन की आवश्यकता नहीं होती, पर जब प्रतीक रूप में आवाहन किया जाता है तो प्राणप्रतिष्ठा करनी पड़ती है, उसके लिए जो वैदिक मन्त्र पढ़ा जाता है, वह बृहस्पति का ध्यान है, अर्थात् मन्त्रशक्ति के देवता का मन्त्र है, इस मन्त्र के द्वारा यह ध्यान किया जाता है कि "मन में इष्ट-शक्ति अर्पित वस्तु को पसन्द करे, बृहस्पति इस उपासना यज्ञ का विस्तार करें। इसे धारण रखें, इसमें विश्वदेव उपस्थित होकर आनन्दित हों।" दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्र के मनन से देवता की उपस्थिति हो जाये और वह उपस्थिति आत्मीय है।

तांत्रिक साधना से जुड़कर पूजा का अनुष्ठान बहुत विशद हुआ। यहाँ किस प्रकार पूजा ऐंद्रिय संसार के समर्पण के अंत में जीव का आत्मनिवेदन है, वह इस तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। यह तालिका *उपहार-प्रकाशिका* नामक ग्रन्थ से *द कल्चरल हेरिटेज,* खंड 4 में उद्धृत है।।

पूजा के इन उपचारों का गहरा प्रयोजन है, उपहार-प्रकाशिका नामक ग्रन्थ में इनके प्रयोजन का वर्णन जैसा किया गया है, उसे अधोलिखित तालिका में स्पष्ट किया गया है—

उपचार	तत्त्व	बीज	द्रव्य	प्रयोजन
पाद्य	जल	वं	जल	स्नेह, देवता के साथ परिचय प्राप्त करना।
गंध	पृथ्वी	लं	चंदनादि	विश्वास कि देवता रक्षा करेंगे।
पुष्प	आकाश	हं	पुष्प	सम्मान, इस भाव से इष्ट देवता सर्वोच्च हैं।
धूप	वायु	यं	धूपद्रव्य	भक्ति, जिसके द्वारा देवता अपने हो जाते हैं।
दीप	तेजस्	रं	दीप	ज्ञान, इस बात का कि भक्त और उपास्य देवता एक हैं,पर यह दशा साक्षात्कार के पूर्व की है।
नैवेद्य	जीव	सं	मधुरद्रव्य	पूर्ण तादात्म्य बोध नैवेद्य के द्वारा जीव अपने आपको समर्पित करता है और देवता द्वारा स्वीकृत होने के बाद फिर उसका प्राशन करता है।

इस तालिका से स्पष्ट है कि पूरी प्रक्रिया एक अत्यन्त सुनिश्चित क्रम से आत्मसमर्पण की प्रक्रिया है। यह यज्ञ के समानांतर है। जिस प्रकार यज्ञ का उच्छिष्ट अमृत होता है, उसी प्रकार नैवेद्य (जो देवता द्वारा स्वीकार किया जा चुका है) अमृत होता है। यज्ञ में, द्रव्य में जिस प्रकार यजमान रहता है, उसी प्रकार नैवेद्य में स्वयं जीव रहता है। अग्नि द्वारा पीत होकर यजमान अजर-अमर होता है। देवता द्वारा स्वीकृत होकर उपासक उस नैवेद्य को ग्रहण करके अपने भीतर असीम आनन्द और अक्षय तृप्ति का अनुभावन करता है, और ध्यान से इस क्रम को देखें तो लगेगा, अव्यक्त जल से प्रारम्भ करके व्यक्त प्रकाश तक आते हैं और अंत में तब जीव और परमात्मा का तादात्म्य होता है, पूरा सृष्टि-चक्र घूमने पर तादात्म्य अपने आप हो जाता है। पूजा में इसीलिए ध्यान पर बहुत बल रहता है। ध्यान पहले आकार का, बाद में सूक्ष्म सत्ता का, फिर शून्य का, फिर अंत में बिन्दु का, फिर बस ध्यान करने वाला ही विलीन हो जाता है; बच जाता है एक गूंज, एक नाद जिसमें ध्येय भी है, ध्यान भी है, ध्याता भी है। हर पूजा की आरती के साथ जो घण्टे का, शंख का अविच्छिन्न निनाद होता रहता है, वह प्रकाश और नाद की एकाकारता को स्थापित करने के लिए ही प्रयोजित है। वह बाह्य प्रकाश और नाद की स्तंभक दीवाल का काम करता है, इस दीवाल के घेरे में बस आपूरित करने वाला उल्लास है, वही आराध्य है, वही आराधक है। हिन्दूपूजा एक छन्दोबद्धलयबद्ध व्यापार है। यह जीवन का संगीत है। इस लय में विरसता तभी पैदा होती है, जब लोग दूसरे मजहबों की प्रतिस्पर्धा में माइक-युद्ध शुरू कर देते हैं। काशी में अलग-अलग मन्दिर में आरती अलग-अलग हो, यह अच्छा है कि एकरूपता के उन्माद में एक साथ सारे शहर में एक ही स्तुति का पाठ अधिक मन को तृप्ति देने वाला है? हिन्दू दृष्टि तो शृंखला दृष्टि है, वह कूटस्थ नित्य धर्म नहीं, सनातन-प्रवाही नित्य धर्म है, बिन्दु-बिन्दु में सिंधु उठता रहे, इसी में वह पूर्णतर होता रहता है।

जो लोग बाह्यपूजा में आडम्बर देखते हैं, उनके लिए अलग विधान है, वे जप करें, वे निराकार का ध्यान करें, समाहित चित्त से प्राणों का प्राणों में होम करें, कुंडलिनी साधे, सनातन-प्रवाही सत्य को अपने जीवन की सच्चाई और सिधाई में उतारें, ऐसे सुकृती लोग कम होते हैं। हिन्दू विश्वास करता है कि बिना भगवत्कृपा के ऐसी संसिद्धि नहीं मिलती कि निष्प्रयत्न सीधे भगवान् में लौ लग जाये। जिसे मिलती है, उसके लिए भगवान् को होना पड़ता है। यहीं भक्ति की भूमिका आती है। भक्ति की कई परिभाषाएँ की गयी हैं— *शाण्डिल्यसूत्र* में 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (भगवान् में परम अनुरक्ति भक्ति है) परिभाषा दी गयी; *नारद भक्ति-सूत्र* में इसी को दूसरे शब्दों में कहा गया – 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' (वह इसमें जो सब ओर एकदम प्रत्यक्ष प्रस्फुरित हो रहा है जिसकी सुरभित श्वास रोम-रोम को छूकर प्रहर्ष दे रही है, इस बड़ी वास्तविकता में ऐसा प्रेम, जिसके आगे और सभी प्रेम, सभी आसक्तियाँ छोटी पड़ जायें, बिसर जायें। और गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।। *(भक्ति रसायन)*

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी के लिए कोई अभिलाषा रहे, ज्ञान और कर्म का चाहे वे कितना भी पवित्र क्यों न हो, बहुमूल्य क्यों न हो, कोई आच्छादन न रहे, समस्त इंद्रियों से केवल भगवान् की सेवा हो, यही उत्तम भक्ति है, इसमें भक्ति ही कर्म और ज्ञान बन जाती है। इस प्रकार की भक्ति उत्तरोत्तर विकास करती हुई उस अवस्था में पहुँच जाती है, जब वह शुद्ध रूप से श्रीभगवान् का आकार ग्रहण कर लेती है और वह प्रवाह की तरह बहती रहती है, फिर उसका कोई लक्ष्य नहीं रह जाता, सिवाय इसके वह तन्मय हो और चूँकि वह तन्मय हो चुकी है, इसलिए भगवान् को अवश्य विवशता हो जाती है कि वह उसके आकार में अपने को अर्पित करता रहे। इस दशा का वर्णन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि—

द्रुतस्य भगवद् धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।। *(भक्ति रसायन)*

पहले तो भगवान् के गुण, महात्म्य और उदारता आदि धर्मों के निरन्तर स्मरण से ऐसी लौ लगती है कि कठिन से कठिन चित्त पिघल जाता है, पिघलकर बहने लगता है। वह चित्त धारावाही हो जाता है, उसमें भगवान् ही भगवान् ही रह जाते हैं और वे इस धारा के साथ बह चलते हैं।

प्रस्तुत भूमिका *उपचार-मीमांसा* की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। *उपचार-मीमांसा* अपने आप में केवल संकलनात्मक ग्रन्थ नहीं है, यह सूक्ष्म व्याख्या भी है, और किसप्रकार इसे जीवन की प्रक्रिया का अभिन्न अङ्ग बनाए, इसका उपदेश भी है। ऐसी सर्वाङ्गपूर्ण अन्य कोई पुस्तक नहीं है, जिसमें समस्त पक्षों का निदर्शन किया गया हो और प्रमाणपूर्वक किया गया हो। जैसाकि पहले कहा जा चुका है यह श्रीविद्या साधना के लिए विशेष रूप से लिखी गयी है, वैसे सभी प्रकार के उपासकों के लिए है, श्रीविद्या साधना करने वाले से कुछ अधिक अपेक्षा की जाती है। उसके लिए विशेष रूप से पद्धति तैयार की गयी है। इसमें सिद्धान्तपक्ष बड़ी स्पष्टता के साथ सामने लाया गया है। मुझे पूरा विश्वास है कि साधक समाज इससे लाभान्वित होंगे।

पूज्य गुरुचरण ने इस पुस्तक के लिए इतना समय दिया और कु. प्रेमवती ने उनके इस पवित्र ग्रन्थ में गणेश का कार्य किया। गुरुजी को प्रणाम करता हूँ और प्रेमवती को आशीर्वाद देता हूँ।

पूर्वकुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
संसद सदस्य
न्यासी, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र

वैदिक विज्ञान के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप विमर्श

आचार्य गुलाब कोठारी

एक नियमित सत्य है कि पानी सदा नीचे की ओर बहता है। अग्नि की गति ऊपर की ओर होती है। वायु तिरछी चलती है। यही सत्य का स्वरूप है। जो पदार्थ कभी नहीं बदलता उसी का नाम सत्य है। नियति नाम प्रकृति का है। यह प्रकृति सत्य चेतना मिश्रित है, चिदनुगृहीत है। चिदनुगृहीत नित्य सत्य का ही कृष्ण से सम्बन्ध है। इसी से जगत् का निर्माण होता है। यह निर्माण चिदनुगृहीत होता है। अर्थात् प्रकृति निर्माण करती है किन्तु चेतना को साथ लेकर। यही चित् का अनुग्रह है।

'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**-इति सर्वस्य ब्रह्मत्वविधानं प्रतिसंचर: पक्ष:'। कारण से कार्योत्पत्ति का जो क्रम है, उसे ही सञ्चर या सृष्टि कहते हैं। सारे कार्यों का अपने कारण में विलीन हो जाना प्रतिसञ्चर क्रम कहलाता है। सृष्टिक्रम में एक ही नाना बन जाता है। प्रलय क्रम में सारे जीव एक हो जाते हैं। ब्रह्म के सर्वतत्त्व का विधान करने वाली **श्रुति-ब्रह्मैवेदं सर्वम्** - से इस ज्ञान का प्रतिपादन होता है। एक से अनेक की ओर जाना विज्ञान है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। अर्थात् कारण एक है, कार्य अनेक है कारण सत्य है और सञ्चर क्रम में विश्वरूप हो जाता है।

ब्रह्म समस्त पदार्थों की प्रतिष्ठा है एवं ब्रह्म ही सबसे प्रथमज है। '**ब्रह्मैवास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्**'—श्रुति। पदार्थों में जो ठहराव दिखाई देता है, उसी का नाम प्रतिष्ठा ब्रह्म है। यह प्रतिष्ठा ब्रह्म किसी पदार्थ में अति मात्रा में और किसी पदार्थ में अल्प मात्रा में रहता है। विद्युत, कर्पूर, मेघ आदि में ब्रह्म अल्पमात्रा में रहता है। जिसमें इन्द्र की मात्रा कम होती है, उसमें प्रतिष्ठा अधिक होती है। इन्द्र विक्षेपण शक्ति का नाम है। इन्द्र की विक्षेपण-धर्म शक्ति को 'शचि' कहते हैं। इन्द्रशचि ही ईथर है और सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जो पदार्थ तुरन्त हवा में उड़ जाते हैं—स्प्रिट, तारपीन आदि, उनको इन्द्र उसी समय चूस लेता है। अत: उनकी प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। ठोस पदार्थ अधिक काल तक रहते हैं। यही ब्रह्म प्रतिष्ठा है। पदार्थों का यह अस्तित्व ही ब्रह्म है। स्थिति तत्त्व का, प्रतिष्ठा तत्त्व का नाम 'ब्रह्मा' है। गति तत्त्व का, विक्षेपण शक्ति का नाम ही इन्द्र है। आदान शक्ति विष्णु है। उस प्रतिष्ठा ब्रह्म पर विष्णु और इन्द्र में स्पर्धा चला करती है। इन्द्र शरीर के प्राण को बाहर फेंकता रहता है। विष्णु बाहर से अन्न ला-लाकर उस कमी को पूरा किया करता है। अत: विष्णु को प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है।

गति समष्टि ही स्थिति अथवा प्रतिष्ठा है। अर्थात् जब वस्तु एक साथ चारों ओर जाना चाहती है, वह किसी तरफ भी नहीं जा सकती। यही स्थिति है। इन्द्र ही सर्वत: गतिमान् होकर विष्णु कहलाते हैं। यदि क्रिया के लिए कोई निष्क्रिय आलम्बन न हो तो क्रिया पैदा ही नहीं होती। प्रतिष्ठा में आदान सोम का होता है और विसर्ग अग्नि का होता है। आदान-विसर्ग क्रिया के लिए आलम्बन की आवश्यकता रहती है। यदि बीज प्रतिष्ठा न हो तो अङ्कुर नहीं निकलता। अङ्कुर जब प्रतिष्ठा ब्रह्म से ऊपर जाते-जाते रुक जाता है, तब उसकी गांठ हो जाती है। फिर उससे और शाखा निकलती है। हर नई चीज की उत्पत्ति के लिए प्रतिष्ठा का जन्म आवश्यक है। '**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्**'।

प्रतिष्ठा ब्रह्म तीन भागों में विभक्त है। सभी पदार्थों में तीनों प्रतिष्ठाएं रहती हैं। इनमें अव्यय लक्षण प्रथम प्रतिष्ठा है, आलम्बन है। त्रयी विद्या लक्षण दूसरी ब्रह्म प्रतिष्ठा है। वीर्य लक्षण तीसरा ब्रह्म है। '**य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप:**'। ब्रह्म से ही-ब्रह्म, नाम-रूप तथा अन्न तीन तत्त्व उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म से वेद प्रतिष्ठा, नाम-रूप से ज्योति तथा अन्न से यज्ञ समझना चाहिए। अव्यय ब्रह्म रूप, प्रतिष्ठा ब्रह्म है। यह प्रतिष्ठा दो प्रकार की होती है-आत्म प्रतिष्ठा एवं विधृति प्रतिष्ठा। आत्म प्रतिष्ठा को सत्ता प्रतिष्ठा या आत्मन्वी कहते हैं। जो भिद्यमान सत्ता है उसको परप्रतिष्ठा कहा है। आत्म प्रतिष्ठा में यह परप्रतिष्ठा भी रहती है। भिद्यमान सत्ता ही 'व्यक्ति' है। आत्म प्रतिष्ठा व्यापक, सर्वालम्बन प्रतिष्ठा है। एक आत्म प्रतिष्ठा (है) पर नाना व्यष्टियां (हैं) नाच रही हैं। भिद्यमान सत्ता को ही त्रयी लक्षणा प्रतिष्ठा कहते हैं। यह भी आत्म प्रतिष्ठा से ही उत्पन्न होती है। अव्यय के कारण इसको ही वेद प्रतिष्ठा कहते हैं। ऋक्-यजु-साम की समष्टि ही वेद है। इसी के लिए 'अनन्ता वै वेदा:' कहा है, क्योंकि भिद्यमान सत्ता प्रतिष्ठा अनन्त है। वेद प्रतिष्ठा अव्यय का महिमा मण्डल ही है। इसी स्वमहिमा में अव्यय ब्रह्म प्रतिष्ठित रहता है।

सर्वप्रथम यह अव्यय ब्रह्म मन-प्राण-वाक् रूप सृष्टि साक्षी बल से ऋक्-यजु-साम रूप वेद प्रतिष्ठा को ही उत्पन्न करता है। तथा स्वयं उसके केन्द्र में प्रतिष्ठित हो जाता है।

> **सोऽयं पुरुष: प्रजापतिरकामयत। भूयान्त्स्याम् प्रजायेयेति, सोऽश्राम्यत। स तपोऽतप्यत।**
> **स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथमसृजत त्रयीमेव विद्याम्।**
> **सैवास्मै प्रतिष्ठा भवत् तस्मात् ब्रह्मण: सर्वस्य प्रतिष्ठेति।**
> **तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येतद् ब्रह्म।'** (*शतपथ.* **6-1-8**)

यदि सूर्य सर्वालम्बन अव्यय ब्रह्म हैं तो रश्मियां महिमा मण्डल हैं। इनको वृहत् साम कहते हैं। यही वेद मण्डल है। जैसे सूर्य का महिमा मण्डल सूर्य से पृथक् नहीं रह सकता, वैसे अव्यय ब्रह्म भी वेद ब्रह्म से अलग नहीं हो सकता। प्रत्येक रश्मि एक वेद है। अनन्त रश्मियां ही अनन्त वेद हैं। सूर्य ही त्रयी विद्यामय है। सूर्य पिण्ड ऋक् (महदुक्थ) और सूर्यमण्डल साम है। इसी ऋक्-साम के मध्य जो पदार्थ हैं, उन्हीं की समष्टि यजु

पुरुष है। यही तीसरा वीर्य ब्रह्म है। आत्म प्रतिष्ठा व्यापक है तथा भिद्यमान प्रतिष्ठा व्यक्ति है। यह आत्म प्रतिष्ठा से उत्पन्न होती है। इसी भिद्यमान सत्ता को त्रयी विद्या प्रतिष्ठा कहा है।

ऋक् और साम से कोई वस्तु पैदा नहीं हो सकती। यजु में यत् वायु है, जू है आकाश। यजु को अग्नि या पुरुष कहते हैं। अग्नि की ही अवस्था विशेष का नाम वायु है। यह अग्नि की तरल अवस्था है। आकाश में जब वायु का सञ्चार होता है, तभी देवता-भूत आदि पदार्थ पैदा होते हैं। अध्यात्म में वायु ही जन्म का मूल है। वायु ही शुक्र-शोणित मिश्रण में रक्त का सञ्चार करके सप्त धातुओं का निर्माण करता है। गर्भ-स्वरूप में परिणत करता है। इस वायुमय यजुर्ब्रह्म को वीर्य लक्षण ब्रह्म कहते हैं।

आलम्बन ब्रह्म ज्ञानघन, वेद ब्रह्म क्रियाघन तथा वीर्य ब्रह्म अर्थघन है, शक्तिघन है। अव्यय ब्रह्म ज्ञाता है, सच्चिदानन्द है। वेद ब्रह्म ज्ञान है, ज्ञाता की रश्मियां है, तथा सारे पदार्थ ज्ञान रश्मियों से निर्मित ज्ञेय हैं। ये तीनों अविनाभूत हैं। विश्व के सभी पदार्थों में ये तीनों प्रतिष्ठा रहती हैं। इन्हीं के तीन नाम-अन्तर्यामी सत्य, वेद-सत्य तथा सूत्र-सत्य भी हैं।

परात्पर ब्रह्म घेरे में (पुरुष) नहीं होने से व्यापक था। मायाबल के उदय होते ही एक अंश में वह ससीम हो जाता है। परात्पर अब पुरुष कहलाने लगता है। पानी के पात्र में सूर्य की छाया माया से नष्ट नहीं होती। माया से आवृत्त पुरुष का भी कुछ नहीं बिगड़ता। दिन-रात माया में रहता हुआ भी आकाश में वायुवत् विकृत नहीं होता। श्रुति प्रसिद्ध है कि **'असीमं हीदं परात्परं ब्रह्म मायाबलावच्छेदाद् मितिं गत्वा पुरुषो भवति।'** यह पुरुष भी निष्कल और पञ्चकल दो प्रकार का होता हैं। जब केवल माया से रस परिविच्छिन्न होता है, एक ही घेरा होता है, तब वह निष्कल कहलाता है। जब दो भाव होते हैं, तब कला यानी आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् इन पांच योगमायाओं से अवच्छिन्न पुरुष पञ्चकल होता है। इस रस या अव्यय में अन्तर्लय तथा बहिश्चिति नाम से दो बल पैदा होते हैं। अन्तश्चिति का रूप आनन्द-विज्ञान-मन है, बहिश्चिति का नाम मन-प्राण-वाक् है। प्रत्येक बल की माया पृथक्-पृथक् होती है। माया का ही नाम परिच्छेद है। परिच्छेद ही पृथक् करता है। पांच बल सिद्ध करते हैं कि पांचों की पांच माया हैं। पांचों का योग महामाया से युक्त रहता है, अत: पांचों को ही योगमाया कहा जाता है। इस महामाया के उदर में जितनी भी माया उत्पन्न होगी, उन सबको योगमाया कहेंगे। पञ्चकलाओं वाला ब्रह्म पञ्चकल तथा महामायापेक्षया अखण्ड पुरुष निष्कल कहलाता है। पांच योगमाया के कारण वहीं पञ्चकल होता है। मनोमय प्राण शरीर का अधिष्ठाता जो ब्रह्म है, वह अन्न में अपना हृदय रखकर प्रतिष्ठित रहता है। अत: मन-प्राण रूप आत्मा की प्रतिष्ठा ब्रह्म है। अन्न ही वाक् है। मन-प्राण ऋत है, अशरीर हैं, अत: स्वरूप से दोनों ही अप्रतिष्ठित हैं। पिण्ड होने से वाक् केन्द्र युक्त है। मन-प्राण शरीर में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इस प्रतिष्ठित तत्त्व को विज्ञान रूप से देखा जाता है। निष्कल तत्त्व ही अनिरुक्त कहलाता है। उसका अनुभव नहीं होता। कलाओं का अनुभव होता है। जिसका ज्ञान हो सके उसे शुक्ल तथा जो अनिरुक्त हो उसे कृष्ण कहा जाता है।

अव्यय पुरुष की पांचों कलाएं अपनी-अपनी अवच्छेदक माया से युक्त रहती हैं। पांचों ही महामाया से युक्त होकर योगमाया कहलाती हैं। इनसे ढका हुआ महामायी अव्यय किसी के प्रत्यक्ष का कारण नहीं बनता। योगमाया इतनी उल्वण रहती है, उद्बुद्ध रहती है। अत: कृष्ण ने भी गीता में कहा है—

नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:।

अत: पुरुष अनिरुक्त है और कलाएं निरुक्त हैं। अव्यय मन का नाम ही निष्कल पुरुष है। मन के बिगड़ते ही शरीर का आकार बिगड़ जाता है। यह मन ही केन्द्र है, नित्य तत्त्व है। इसके बिना कोई वस्तु ठहर नहीं सकती।

इस असत् (प्राणहीन) मन से पहले काम ही उत्पन्न होता है। '**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।**' यह इच्छा बल सृष्टि निर्माण में तीसरा बल है। पहला बल मायाबल, जिसने परात्पर को परिच्छिन्न (सीमित) बनाया। दूसरा हृद्बल, जो कि ससीमता होते ही उत्तरकाल में तुरन्त उत्पन्न हो जाता है। तीसरा बल इच्छा या काम है। जो वस्तु परिच्छिन्न होती है, इच्छा उसका स्वाभाविक धर्म बन जाती है। अशनाया बल को ही इच्छाबल कहते हैं। जो तत्त्व व्यापक था, वह माया से सीमित हो गया, अत: इसमें उस सीमा को तोडऩे की इच्छा का अपने आप उदय हो गया। अभाव में ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा उठती है। इस रस के तथा व्यापक रस के बीच माया का पर्दा आ गया, अत: इसी पर्दे को हटाने के लिए इच्छाबल पैदा हो गया। इस इच्छा के उत्पन्न होने का एकमात्र कारण है-मन। सृष्टि में मन से भी पहले काम ही उत्पन्न हुआ था। 'मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्' यही अर्थ रखता है। वैसे इच्छा तो मन का धर्म ही है। दोनों अलग नहीं हो सकते। मन में सारी इच्छाएं सदा मौजूद रहती हैं। इसी में से इच्छाएं प्रादुर्भूत होती रहती हैं एवं विलीन होती हैं। वस्तुत: दूध की उन्मुग्ध अवस्था का घृत उद्बुद्ध अवस्था में प्रादुर्भूत हो जाता है। नया कुछ उत्पन्न नहीं होता।

इस मन से सर्वप्रथम पैदा होने वाली वस्तु को प्रजापति कहा है। इच्छा से प्राण तथा प्राण से वाक् व्यापार होता है। वाग् व्यापार होना ही नई वस्तु है। अव्यय मन की इच्छा से अक्षर तथा क्षर प्रकृतियां उत्पन्न होती हैं। निष्कल अव्यय मन में मायाबल के कारण इच्छाबल पैदा हो जाता है, इच्छाबल से अन्य बल पैदा होते हैं। इन बलों से मन ढक जाता है। सारे बलों का मन पर चुनाव होने से अव्यय मन को चिदात्मा कहते हैं। जिन बलों का चयन होता है वे अन्तश्चिति और बहिश्चिति रूप में बंट जाते हैं। आनन्द-विज्ञान अन्तश्चिति तथा प्राण-वाक् बहिश्चिति के बल को कहते हैं। मन दोनों के बीच रहता है। एक मुक्ति साक्षी तथा दूसरा सृष्टि साक्षी बल है। मन दोनों ओर रहता है। इस प्रकार एक ही निष्कल तत्त्व बलों के कारण पांच कलाओं में बंट जाता है। इनमें से प्राण द्वारा अक्षर सृष्टि तथा वाक् द्वारा क्षर सृष्टि का निर्माण अव्यय मन करता है।

मन ही अक्षर बन जाता है, मन ही क्षर बन जाता है। अक्षर की समष्टि भी पञ्चकल हैं-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम। इनमें ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र हृदय कहलाते हैं। ब्रह्म प्रतिष्ठा में है '**ब्रह्मवैतास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा, ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्**' कहा गया है। विष्णु आदान करने वाले हैं। अर्क रूप से बाहर जाकर अन्न लाते हैं।

आए हुए अन्न को बाहर फेंकने वाले प्राण को इन्द्र कहते हैं। विष्णु सोम रूप अन्न लाते है। इन्द्र अग्नि को बाहर फेंकते हैं। इस अक्षर से ही अव्यय मन पर अन्नादि का चुनाव होता है। अव्यय मन के सृष्टि साक्षी प्राण से अक्षर उत्पन्न होता है। वाग् भाग से क्षर उत्पन्न होकर अक्षर से बद्ध रहता है। इन सबकी समष्टि ही प्रजापति है। मन ही प्रजापति है। अक्षर-क्षर प्रजा है। यह प्रजापति ही षोडशी कहलाता है।

प्रजापति मन में ही प्रतिष्ठित रहता है। मन से पांच कलाएं उत्पन्न होती हैं। इनमें प्राण द्वारा अक्षर उत्पन्न होते हैं। अक्षर से वाक् द्वारा क्षर पैदा होता है। क्षर से विकार पैदा होते हैं। विकारक्षरों से यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक आगे की सृष्टि की पिछली सृष्टि प्रतिष्ठा बनती जाती है। यज्ञक्षर की प्रतिष्ठा विकारक्षर है। विकारक्षर की प्रतिष्ठा आत्मक्षर है। आत्मक्षर की प्रतिष्ठा अक्षर है। अक्षर की प्रतिष्ठा प्राण तथा प्राण की प्रतिष्ठा मन है। सब की मूल प्रतिष्ठा मन ही है। इसके बिना किसी की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। यही 'परम' कहा गया है। सम्पूर्ण सृष्टि उस 'पर-मन' पर आलम्बित है।

वाक् से उत्पन्न होने वाला क्षर तीन प्रकार का (आत्म-विकार-यज्ञ)होता है। आत्मक्षर से प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद ये पांच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। ये अलग-अलग न रहकर, एक-दूसरे में आहूत हो जाते हैं। इसी को सर्वहुत यज्ञ कहते हैं। इसी से पांच यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। अपञ्चीकृत प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न विकारक्षर हैं। प्राण ब्रह्मा (अक्षर) का विकार है। आप विष्णु का, वाक् इन्द्र का, अन्नाद अग्नि का तथा अन्न सोम का विकार है। इन पांचों की परस्पर आहुति से 'पञ्चीकृत'पांच क्षर उत्पन्न होते हैं। आहुति ही यज्ञ है। अत: ये पांचों यज्ञक्षर कहलाए। पञ्चीकृत यज्ञक्षर ही स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी कहलाते हैं। सारे देवता और सारे भूत इन्हीं यज्ञक्षरों से उत्पन्न होते हैं। आत्मक्षर (प्रजापति) से ही भूत-देवता पैदा होते हैं। षोडशी आत्मा से या पुरुष प्रजापति से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् यही सारा प्रपञ्च अव्यय मन में प्रतिष्ठित रहता है। यह परात्पर सजातीय, विजातीय, विगत भेद से शून्य है। एक रूप है। न घटता है, न बढ़ता है। इससे सृष्टि नहीं हो सकती। सृष्टि माया से आवरित मन से ही होती है। यही अव्यय मन, पुरुष प्रजापति नए-नए स्वरूप धारण करता जाता है। मन में नई-नई वस्तुएं पैदा होती रहती हैं। अत: इसको 'श्वोवसीयस' मन कहते हैं। '**उत्तरोत्तरं वसीय: अतिशयेन श्रेष्ठं श्वोवस्यसम्**' को श्वोवसीयस ब्रह्म कहा है।

इस मन की आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक् चार कलाएं हैं। आनन्द-विज्ञान-मन प्रतिष्ठ ब्रह्म है, अकर्म (ब्रह्म) है, अमृत है, विद्या-ज्ञान है। मन-प्राण-वाक् सृष्ट ब्रह्म है, कर्म है, मृत्यु है, अज्ञान है, अविद्या है। अत: एक ही ब्रह्म का आधा भाग ब्रह्म रूप है। दोनों मिलकर प्रजापति का शरीर हैं। '**अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्।**'

ज्ञान और कर्म को अलग नहीं किया जा सकता। मन-प्राण-वाक् भले ही सृष्टि साक्षी प्राण हों, किन्तु आनन्द-विज्ञान के बिना सृष्टि नहीं हो सकती। स्त्री-पुरुष में यदि वैर भाव है, आनन्द नहीं है, तो सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती। दु:खी मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। श्रुति कहती है-'**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि**

भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशति।' आनन्द से ही सृष्टि उत्पन्न होती है एवं आनन्द से ही स्थिति होती है। दु:खी व्यक्ति शीघ्र ही मृत्यु के मुख में जाना चाहता है। इसी प्रकार ज्ञान कोई नई चीज बन ही नहीं सकती। बुद्धि को ही विज्ञान कहते हैं। विज्ञान ही तो आज विश्व को चला रहा है। जो व्यक्ति विरक्त चित्त होता है, उससे कोई नई चीज नहीं बन सकती। जो विज्ञान शून्य हैं, मूर्ख हैं, वे भी नई चीज नहीं बना सकते। अत: यह मानना होगा कि हर परिस्थिति में आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक् सदा रहते हैं।

मन तीन प्रकार के होते हैं। अव्यय मन 'श्वोवसीयस मन' या 'ब्रह्म' कहलाता है। सारी इन्द्रियों पर रहने वाला जो मन है, वह प्रज्ञा मन कहलाता है। यही दु:ख-सुख-मोह का अनुभव करता है। इसे सर्वेन्द्रिय मन भी कहते हैं। इन्द्रियां अपने नियत विषय का ही अनुभव करती हैं और यह मन सभी विषयों का अनुभव करता है, इसे अतीन्द्रिय मन भी कहते हैं। यही सारी इन्द्रियों की प्रतिष्ठा है। कहते हैं कि मन बाहर दौड़ता है, इसको कामना ही समझना चाहिए। मन बाहर नहीं जाता। यह तो हृत्-प्रतिष्ठित है। मन की वृत्ति-इच्छा-बाहर जाती है। मन यदि निकल गया तो शरीर कहां रहेगा।

श्वोवसीयस मन ज्ञान-कर्ममय है। माया बल तथा इच्छा बल के कारण ज्ञान-कर्म रूप हो जाता है। ज्ञान को रस तथा कर्म को बल कहते हैं। परिच्छिन्न रस ही मन है। रस और बल अविनाभूत हैं। बल की सुप्त अवस्था में मन निष्कल अव्याकृत या अद्वैत भाव में रहता है। जिस प्रकार कली खिलने पर पत्ते और केसर दो रूप हो जाते हैं। उसी प्रकार श्वोवसीयस मन भी ज्ञान व कर्ममय हो जाता है। भिन्न-भिन्न स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जैसे फुलझड़ी से अग्नि का सम्बन्ध होते ही हजारों स्फुलिंग (फूल) निकलने लगते हैं। वैसे ही मन के व्याकृत होते ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्र, मनुष्य, पक्षी, कीट आदि भाव बन जाते हैं। जब तक मन सृष्टि साक्षी नहीं होता (इच्छा रूप), तब तक एक रहता है। मन में ज्ञान-कर्म दोनों सुप्त रहते हैं। यही उन्मुग्ध या अव्यक्त अवस्था है। सृष्टि साक्षी बल से सम्बन्ध होते ही मन व्याकृत हो जाता है। '**इदं च श्वोवस्यसं मन: सर्वसृष्टि बीजभूतमव्याकृत: ज्ञानकर्ममयकामेन ज्ञानकर्माभ्यां व्याकृतं भवति।**' सृष्टि साक्षी बल के कारण मन उक्थ, अर्क, अशिति तीन रूपों में व्याकृत होता है। मन ही उक्थ है, अर्क इच्छा है, अशिति चयन है। मन से इच्छा-रूप जो रश्मियां बाहर जाती हैं-वे अर्क हैं। ये रश्मियां जिस विषय या अन्न को लाकर मन पर जमा करती हैं, वे अशिति हैं। इच्छा का विषय अन्न है और मन से ही उठता है।

पुरुष बिना प्रकृति के एक क्षण भी नहीं रह सकता। क्षर और अक्षर दोनों ही अव्यय पुरुष की प्रकृति हैं। तभी पुरुष का स्वरूप बन सकता है। अव्यय, अक्षर, क्षर तीनों एक साथ जन्म लेते हैं। अव्यय आलम्बन, अक्षर निमित्त तथा क्षर समवायिकारण है। इनमें अक्षर ज्ञान और प्राणमय है तथा क्षर वाक् और आनन्दमय है। प्राण व्यापार को ही कर्म कहते हैं। अक्षर ज्ञान-कर्ममय होने से सभी कार्य ज्ञान-कर्म मिश्रित होते हैं। कर्म प्राण का पर्याय है।

इसी प्रकार वाक् वस्तु को कहते हैं। आनन्द अनुभूति है। हमारे सभी कार्य इन दो की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। आनन्द भी एक वस्तु ही है। वस्तु से आनन्द आता है। मन के पेड़ पर विज्ञान और प्राण के पुष्प खिलते हैं, वाक् और आनन्द के फल लगते हैं। विज्ञान का फल आनन्द है, प्राण का फल वाक् है। ज्ञान में आनन्द है। प्राण से वस्तु प्राप्त होती है। जिनमें प्राण मात्रा अधिक होती है-उन उद्यमियों, वीरों के लिए सम्पत्ति सामने खड़ी रहती है। प्राण ही सम्पत्ति का अधिष्ठाता है।

आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् पांच नहीं, तीन ही हैं-आनन्द, ज्ञान व सत्ता। ये तीनों भी एक ही हैं-एक ही मन के रूप हैं। ज्ञान-कर्म की प्रवृत्ति से इच्छा पैदा होती है। हां, कभी ज्ञान पहले और कर्म बाद में (निर्माण क्षेत्र) तथा कहीं कर्म पहले, ज्ञान बाद में (पुस्तक पढऩा) होता है। दोनों की मिली-जुली अवस्था ही 'काम' है। ज्ञानसूत्र से होने वाली कर्षण क्रिया ही 'काम' है।

ब्रह्म भी तीन प्रकार के कहे हैं-कं ब्रह्म, खं ब्रह्म, व रं ब्रह्म। संसार के प्रत्येक प्राणी में आवपन, अन्नाद और अन्न तीन भाव होते हैं। आवपन ब्रह्म ही आलम्बन ब्रह्म है। आनन्द, भोक्ता-ब्रह्म है तथा अन्न भोग्य ब्रह्म है। शरीर आलम्बन, आत्मा-भोक्ता या अन्नाद, तथा भोग्य पदार्थ सब अन्न हैं। ये अन्न भी सात प्रकार के हैं-मिट्टी, पानी, अग्नि, हवा, आवाज, क्रिया और ज्ञान। खाने वाला जिस स्थान पर बैठकर खाता है, उस स्थान को 'आवपन' कहते हैं। खाने वाला अन्नाद तथा जिसे खाया जाए वह अन्न है। पदार्थ के स्वरूप के लिए तीनों आवश्यक हैं। आत्मा जब तक शरीर आलम्बन पर टिका है, तब तक ही अन्न खा सकता है। इस आवपन, अन्नाद और अन्न को ही क्रमश: खं, रं तथा कं ब्रह्म कहा जाता है। आकाश ही भोक्ता का आलम्बन है। आत्मा दहराकाश में ही प्रतिष्ठित है। अत: आत्मा आकाश के आलम्बन को खं ब्रह्म कहा जाता है। दहराकाश में आत्मा ले-लेकर रमण करता है। कं सुख को कहते है जो अन्न से प्राप्त होता है। अन्न ब्रह्म ही कं ब्रह्म है। पानी को भी कं कहते हैं, सोम है। आत्मा-अन्नाद-अग्नि रूप है। इसमें सोम की आहुति होती रहती है।

यह सम्पूर्ण सृष्टि एक ही मूल तत्त्व से उत्पन्न हुई है, उसी में स्थित रहती है और अन्त में उसी में लीन हो जाती है। उस तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं। इसके दो रूप कहे हैं-कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म। उक्थ, प्रतिष्ठा और साम का सम्मिलित रूप कारण ब्रह्म है। जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ उठते, निकलते, प्रकट होते हैं, उसे उक्थ कहते हैं। मिट्टी घड़े का उक्थ है। बृंह् धातु से ब्रह्म बनता है जिसका अर्थ है बृंहण अर्थात् बढऩा। जो अपने आप क्षीण न होता हुआ नई वस्तु बनाए। पदार्थ उत्पन्न होकर जिसके आधार पर टिके रहते हैं, वह पदार्थ की प्रतिष्ठा कहलाती है। मिट्टी ही घड़े की प्रतिष्ठा है। पदार्थों का जो भरण-पोषण करता है, वह ब्रह्म है। भरणात्मक भृञ् धातु से भी ब्रह्म शब्द बनकर प्रतिष्ठा रूप बोध करता है। जल से उत्पन्न फेन, हिम, कफ आदि रूपों में जल व्याप्त रहता है। रज, शर्करा (बालू), पत्थर, लौह, आदि रूपों में पृथ्वी तत्त्व समान रूप से व्याप्त रहता है। जगत् के सब तत्त्वों में अभिन्न रूप से वर्तमान एक सत्तारूप है-जो सर्वत्र समान भाव से रहने

के कारण साम कहलाता है। यह भी बृंह् धातु ब्रह्म का ही द्योतक है। उक्थ, प्रतिष्ठा, साम लक्षणों वाला कारण ब्रह्म ही सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व वर्तमान था।

सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म के रूप हैं। सत् शब्द से सत्ता वाले का ग्रहण नहीं है, बल्कि सत्ता रूप ही ब्रह्म है। यद्यपि सर्वत्र व्यापक निर्विशेष ब्रह्म के लिए किसी शब्द विशेष का सङ्केत नहीं किया जा सकता, तथापि संसार जब बन जाता है तब उस जगत् में सत्ता-चेतना-आनन्द रूप में ही ब्रह्म को पहचाना जाता है। सत्ता रूप की व्यापकता का सर्वत्र अनुभव होता है। प्राणी 'मैं हूं', 'यह है' का ही अनुभव करता है। सृष्टि से पूर्व ब्रह्म (उक्थ, प्रतिष्ठा, साम रूप) एक अविभक्त रूप में रहता है। वृद्ध्यर्थक बृंह् धातु से ब्रह्म बनता है, अत: अपने आप अविकृत रहता हुआ भी वह अनेक रूपों में विभक्त प्रतीत होने लगता है। इसी को ब्रह्म का व्याकरण कहते हैं। अविभक्त का विभक्त रूप दिखाई पड़ना व्याकरण कहलाता है। सृष्टि से पहले ब्रह्म में बल सुप्त था, अब जाग्रत् अवस्था में आ गया तो व्याकृत हो गया। निर्विशेष ब्रह्म में विशेष प्रकट होना जागरण है।

सृष्टि पूर्व अवस्था में बल सुप्त रहता है, विशुद्ध रस ही रहता है। तब निर्विशेष कहलाता है। बल जब उद्बुद्ध होता है, तब परात्पर अवस्था होती है। यह बल नि:सीम रस की सीमा बनाता है। तब पहला अव्यय पुरुष प्रकट होता है।

अव्यय पुरुष की सृष्टि साक्षी तीन कलाओं-मन-प्राण-वाक् से कर्म पुरुष बनता है, जो कर्म या क्रिया करता है। आनन्द-विज्ञान-मन से विद्या या ज्ञान पुरुष बनता है, जो कर्म तोड़ता है। इनमें मन सम्पूर्ण ज्ञानों का, प्राण सम्पूर्ण क्रियाओं का तथा वाक् सम्पूर्ण अर्थों का उक्थ होता है। मन-प्राण-वाक् ही ज्ञान-क्रिया-अर्थ के उक्थ-प्रतिष्ठा-साम होते हैं। तीनों का सम्मिलित रूप ही आत्मा कहा जाता है। श्रुति प्रसिद्ध है कि आत्मा मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय है। वाक् का अर्थ है नीचे की ओर जाने वाली-चैतन्य रहित। मन और प्राण वाक् के गर्भ में रहते हैं। आत्मा धर्मों को धारण करने वाला-धर्मी है। अपनी प्राण रूप शक्ति से सदा कुछ करता रहता है।

गीता में कहा गया है कि कोई भी प्राणी किसी भी क्षण क्रिया के बिना नहीं रहता है। यह आत्मा मन के द्वारा सदा कुछ जानता भी रहता है। इस सतत क्रिया से आगे तीन रूप बन जाते हैं-आत्मा, प्राण और पशु। तीनों का मिश्रित रूप ही 'सत्य' है। सृष्टि आत्मा से चलती है-वही उक्थ है। सत्य रूप से ही पशुओं में प्राणों की स्थिति होती है। विचरता हुआ अर्क(इन्द्र) जब वाक् (विष्णु) को लाकर मन को अर्पित करता है, तो मन का विकास होता है। इसी को ज्ञान कहते हैं। जो वाक् विषय में प्रविष्ट होती है, पशु कहलाती है। आत्मा सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, सम्पूर्ण धर्मों से युक्त है। सब पदार्थों को जानने की, सब कुछ करने की तथा सबको धर्म रूप भीतर लेने की शक्ति इसमें है। सारी क्रियाएं, अभिव्यक्ति या सारे पदार्थ आत्मा ही हैं।

कारण ब्रह्म में उक्थ-प्रतिष्ठा-साम भिन्न-भिन्न नहीं होते। एक ही स्थान में तीनों रहते हैं। कारण ब्रह्म से ही कार्य ब्रह्म उत्पन्न होता है। चूंकि कार्य अनन्त होते हैं, अत: कार्य ब्रह्म में उक्थ-प्रतिष्ठा-साम भिन्न-भिन्न

आधार में रहते हैं। पृथ्वी के सभी पिण्ड पदार्थ, सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी पृथक्-पृथक् ब्रह्म हैं। इनमें प्रत्येक के पृथक्-पृथक् तीन रूप बनते हैं-उक्थ-प्रतिष्ठा-साम। प्रत्येक पिण्ड अपने में से निकलने वाले वाक्-प्राण आदि का उक्थ होता है। पिण्ड को ही निरुक्ता वाक् तथा ऋक् कहते हैं। इसके नाभि (केन्द्र) में प्रतिष्ठित प्राण शक्ति इन्द्र कहलाती है। यही पिण्ड की प्रतिष्ठा है। इसके च्युत होने पर पिण्ड च्युत हो जाता है। चाक के घूमते रहने पर केन्द्र बिन्दु स्थान नहीं छोड़ती। अत: पिण्ड भी स्थान नहीं छोड़ता। वहां 'अवयव क्रिया' ही होती है। समुदाय क्रिया नहीं हो पाती। इस केन्द्र शक्ति को 'अनिरुक्त प्रजापति' कहा जाता है।

प्रत्येक पिण्ड दूर से भी दिखाई देता है। एक बिन्दु ऐसा आता है, जिससे आगे पिण्ड दिखाई नहीं देता। यह 'लोकालोक' मण्डल कहलाता है। निधन साम (अन्तिम मण्डल या बिन्दु) तथा बीच के सभी मण्डल साम कहलाते हैं। सब दिशाओं से देखने पर वे समान ही दिखते हैं, अत: साम हैं। पास और दूर से पिण्ड छोटे-बड़े दिखाई देते हैं। मूल पिण्ड के अनुरूप ही छोटे-बड़े साम बनते हैं। छोटे पिण्ड का बड़ा या बड़े पिण्ड का छोटा साम नहीं होता।

उक्थ और साम की आत्मा है-प्रतिष्ठा। साम और प्रतिष्ठा उक्थ की आत्मा है। तीनों साथ हैं। जिसकी सत्ता से दूसरे की सत्ता रहती है, वही उसकी आत्मा है। अत: उक्थ-प्रतिष्ठा-साम ही आत्मा है। आत्मा ही ब्रह्म है। ये तीनों कार्य ब्रह्म तीन जातियों में विभक्त दिखाई पड़ते हैं। स्वज्योति, परज्योति, रूपज्योति (ज्योति न फैलाते हुए भी रूपवान् दिखने वाले-पृथ्वी आदि)। सर्वं तेज:। तेज को साम कहते हैं। जहां प्रकाश तथा अन्धकार मिल से जाते हैं, वही लोकालोक है। पृथ्वी आदि बिना ज्योति के पदार्थों का ऐसा मण्डल समझ में नहीं आता।

प्रधान सम्पादक,
राजस्थान पत्रिका समूह,
केशरगढ, जयपुर (राजस्थान)

मूर्धन्य तन्त्रशास्त्री शिवानन्द गोस्वामी

महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री

भारत के प्राचीन और महत्त्वपूर्ण शास्त्रों में एक प्रमुख शास्त्र है—तन्त्रशास्त्र, जिसकी परम्परा हजारों वर्षों से चली आ रही है किन्तु गोपनीय माने जाने के कारण उसकी जानकारी बहुत कम लोगों को हो पाती है। आजकल तो विदेशी अध्येताओं की रुचि के कारण तन्त्रशास्त्र की धाक देश-विदेश में पुन: फैलने लगी है। इस तन्त्रशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् और भारत प्रसिद्ध ग्रन्थकार गोस्वामी शिवानन्द की कृतियाँ शायद इसी कारण पिछली अर्धशती में पुन: प्रकाश में आई हैं। यह विद्वान् विभिन्न राज्यों से होते हुए राजस्थान में आ बसा था जहाँ आज भी इसके लिखे बीसियों शास्त्रीय ग्रन्थ विभिन्न ग्रन्थागारों में उपलब्ध हैं।

अब तो इस विद्वान् के बहुत-से ग्रन्थ प्रकाशित भी हो गये हैं और उनकी जानकारी देश-विदेश में फैली है जिनमें तन्त्रशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, धर्मशास्त्र, शब्दकोष, साहित्य, काव्य, स्तोत्र, सभी विद्वायों के चालीस-पचास ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अनेक कृतियाँ और हो सकती हैं जो मध्यप्रदेश या राजस्थान के किसी ग्रन्थागार में रखी हों। गोस्वामी शिवानन्द ने शिरोमणि नाम से भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे।

वंश परम्परा

शिवानन्द गोस्वामी सत्रहवीं सदी में पैदा हुए थे और इन्होंने ग्रन्थ रचना ईसा की सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में की। ये अपने जीवकाल में मध्यप्रदेश के चन्देरी राज्य तथा राजस्थान के बीकानेर और आमेर राज्यों के राजाओं के गुरु रहे, उनके द्वारा सम्मानित और भूसम्पत्ति से समृद्ध होकर उनके अनुरोध पर इन्होंने ग्रन्थ रचना की। इनका वंश दक्षिण भारत से उत्तर भारत में आकर बसा था। इस वंश में संस्कृत के विद्वान्, शास्त्रकार और उत्कृष्ट कवि हर पीढ़ी मेंहुए। यह परिवार द्रविड़ देश अर्थात् तमिलनाडु व आन्ध्रप्रदेश व कांचीपुरी के दक्षिण में पाणिंपट्ट नामक नगर का निवासी था जिसमें शास्त्रों के ज्ञाता समरपुंगव दीक्षित, *वैद्य चन्द्रोदय* और *यात्रा प्रबन्ध चम्पू* आदि के रचनाकार तिरुम्मल दीक्षित, *यशस्तिलक चम्पू* के रचयिता श्री निकेतन आदि विद्वान् हुए।

इन श्री निकेतन के पुत्र थे श्रीनिवास गोस्वामी जो तन्त्रशास्त्र के अप्रतिम विद्वान् थे। इन्होंने *शिवार्चन चन्द्रिका, सौभाग्य रत्नाकर, सपर्याक्रमकल्पवल्ली* आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। ये शक्ति के उपासक, चमत्कारी साधक और सशस्वी लेखक थे।

ये पहले विद्याध्ययन के लिए काशी गये। फिर जालन्धर पीठ नामक शक्तिपीठ में साधना करने गये। ये दक्षित भारत से उत्तर भारत में आकर बस गये। तभी से यह परिवार उत्तर भारतीय बन गया। ये तन्त्रशास्त्री होने के नाते विद्यानन्दनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी प्रशस्ति अनेक विद्वानों ने लिखी है—

तत्सूनुः श्रीनिवासः सकलनिगमवित् सर्वशास्त्रार्थवेत्ता,
श्रौतस्मार्तेषु कर्मस्वतिशयनिपुणः सत्कविः स्वीयदेशान्।
पीठं जालन्धराख्यं प्रकटितविभवं प्राप्य यात्राप्रसङ्गात्,
तत्र श्रीसुन्दराख्यं सकलगुणनिधिं प्राप सद्देशिकेन्द्रम्।।

इन्हीं श्रीनिवास के पुत्र थे जगन्निवास जिनके पुत्र शिवानन्द अद्भुत वैदुष्य के धनी ग्रन्थकार और शास्त्रलेखक हुए। स्वयं जगन्निवास भी बड़े साधक और लेखक थे। इन्होंने *शिवार्चन चन्द्रिका* आदि तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे। इन्हें बुन्देलखंड के चंदेरी राज्य के राजा देवीसिंह काशी से अपनी राजधानी ले गये जहाँ जागीर देकर इन्हें बसाया और राजगुरु बनाया।

राजा देवीसिंह अपने गुरु जगन्निवास के पुत्र शिवानन्द गोस्वामी की प्रतिभा, विद्वत्ता और तन्त्रसाधना से बहुत प्रभावित हुए। देवीसिंह के अनुरोध पर शिवानन्द गोस्वामी ने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें व्याकरण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, तन्त्रशास्त्र आदि के प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण आधारग्रन्थ शामिल हैं। शिवानन्द की विद्वत्ता और लेखकीय प्रतिभा की प्रशंसा अनेक लेखकों ने की है।

शिरोमणि शिवानन्द

तत्सूनुः शास्त्रचर्चाचतुरतममतिस्तन्त्रमन्त्रैकवेत्ता,
छेत्ता यः संशयानां निजचरणपयोजन्मपूजापराणाम्।
सर्वोर्वीपाल–भास्वन्मुकुटगतमहारत्न–नीराजिताङ्घ्रिः,
भूयो दानैकतानोऽभवदवनितले श्रीशिवानन्दनामा।

इन शिवानन्द गोस्वामी को शिरोमणि भी कहा जाता था। इनकी विद्वत्ता की ख्याति जब देश में फैलने लगी तो विभिन्न राज्यों के राजाओं ने इन्हें सम्मानित कर अपने राज्य में बुलवाया। चन्देरी के राजा देवीसिंह के पुत्र दुर्गसिंह भी इनका सम्मान करते थे किन्तु इन्हें जब बीकानेर नरेश अनूपसिंह और जयपुर नरेश विष्णुसिंह ने बुलाया और जागीरें देकर अपने राज्य में बसाना चाहा तो वे मना नहीं कर सके। शिवानन्द गोस्वामी दोनों ही राजवंशों के गुरु हो गये। बीकानेर और जयपुर दोनों नगरों में इन्होंने कुछ समय तक निवास किया और ग्रन्थ लिखे।

बीकानेर से शिवानन्द जी को आमेर नरेश महाराजा विष्णुसिंह अपना गुरु बनाकर आमेर ले आए। इन्हीं विष्णुसिंह जी के पुत्र सवाई जयसिंह ने जयपुर बसाया था। उससे पूर्व यहाँ की राजधानी आमेर ही थी। आमेर

के राजा विष्णुसिंह देवी के भक्त थे, शाक्ततन्त्र में रुचि रखते थे और मन्त्रसाधना करते थे। उन्होंने विधिवत् शिवानन्द को अपना गुरु बनाया, उनकी चरणपूजा की, उनसे दीक्षा दी। इसका प्रामाणिक विवरण श्रीकृष्ण भट्ट कवि कलानिधि ने अपने ऐतिहासिक महाकाव्य *ईश्वरविलास* में दिया है।

आम्बेरेश्वरविष्णुसिंहनृपतिः पूर्णाभिषिक्तो गुरुं,
पञ्चग्रामवरान् समर्प्य चरणात्तौं तस्य भक्त्याऽकरोत्।
तेनाऽभ्यर्चितपादपद्मयुगलः श्रीमान् शिवानन्दनो,
देवाराधनसिद्धिदां क्षितिमिमां मत्वान्वगृह्णान्नृपम्।।

अर्थात् विष्णुसिंह ने पाँच गाँवों की भेंट देकर शिवानन्दजी की चरणपूजा की। उन्होंने भी राजा का पूर्णाभिषेक किया, मन्त्र दिया और आशीर्वाद दिया कि यह भूमि साधना के अनुकूल है, तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी।

जयपुर बसने से पूर्व आमेर के राजा विष्णुसिंह ने शिवानन्द जी को जो पाँच गाँव दिये वे जयपुर के पास ही अजमेर रोड पर थे। स्वतन्त्रता से पूर्व तक उन पर शिवानन्द जी के वंशज गोस्वामियों का ही आधिपत्य था। इनमें से एक गाँव 'महापुरा' में आज भी इनकी स्मृति में एक बस्ती शिवानन्दपुरी नाम से स्थापित है और एक स्नातक महाविद्यालय गोस्वामी शिवानन्द राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के नाम से चल रहा है। इसकी स्थापना इनके वंशज संस्कृत विद्वाना गोस्वामी हरिकृष्ण शास्त्री ने की थी।

गोस्वामी हरिकृष्ण शास्त्री स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् एवं कवि थे। इनके लिखे अनेक ग्रन्थ, काव्य, कथासंग्रह आदि प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने स्वामी रामानन्दाचार्य के जीवन पर '*आचार्यविजयः*' नामक जो ग्रन्थ लिखा वह अनेक प्रकाशन संस्थानों से प्रकाशित हो चुका है। शिवानन्द गोस्वामी के वंशजों में तन्त्रशास्त्र की वैदुष्य परम्परा बराबर चलती रही है इसका विवरण में दिया जा सकेगा। इससे पूर्व गोस्वामी शिवानन्द जी के लिखे तन्त्र ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

ग्रन्थ परम्परा

शिवानन्द गोस्वामी के लिखे लगभग चालीस ग्रन्थों की जानकारी अब तक प्राप्त हुई है। इनका क्षेत्र इतना विशाल है कि इसमें तन्त्रशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, शब्दकोष, स्तोत्र साहित्य सभी आ जाते हैं। संस्कृत वाङ्मय को इनके योगदान का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि ग्रन्थ है—*सिंहसिद्धान्त सिन्धु* जिसे तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष कहा जा सकता है।

इसमें 92 अध्यायों में सब तरह के मन्त्रों की जानकारी दी गई है, सब तरह के देवताओं की पूजा पद्धति है, दैनिकचर्या के विधान हैं, होम और पाठ के प्रकार हैं। किस कामना से किस देवता की साधना की जाती है और किस कार्य की सिद्धि के लिए कौन-से मन्त्र जपे जाते हैं इसका विवरण है, पुरश्चरण का, दीक्षा लेने

का, यन्त्र आदि बनाने का विधान बताया है। इस प्रकार इसमें 268 प्रकरण हैं, पैंतीस हजार से अधिक श्लोक हैं। इसमें जिन ग्रन्थों, ग्रन्थकारों और स्रोतों के उद्धरण और संदर्भ हैं उनकी संख्या है दो सौ इक्यासी (281)। इससे इस ग्रन्थ की विशालता का और विषयवस्तु के व्यापक फलक का अनुमान किया जा सकता है। स्वयं ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का महत्त्व बतलाया है—

गुरुचरणसरोजानुग्रहप्राप्यबोधः, श्रवणजनितभक्तस्वान्तभूरिप्रमोदः।
निखिलमनुरहस्योद्बोधकोयं निबन्धो, जयतु जगति नाम्ना सिंहसिद्धान्तसिन्धुः।

अर्थात् वैसे तो गुरु की कृपा से ही सिद्धि प्राप्त होती है किन्तु इस ग्रन्थ में समस्त मन्त्रों का विधान और रहस्य बतला दिया गया है जिसके पढ़ने और सुनने से हृदय प्रबुद्ध हो जाता है। यह *सिंहसिद्धान्तसिन्धु* नामक ग्रन्थ विश्वविजयी होगा।

इसका नाम सिंहसिद्धान्तसिंधु तो रखा गया है चन्देरी के राजा देवीसिंह के अनुरोध पर समस्त तन्त्र सिद्धान्तों का समुद्र इसे बतलाने के लिए किन्तु यह तन्त्रशास्त्र और मन्त्रशास्त्र का सन्दर्भ ग्रन्थ है जिसकी प्रतियाँ राजस्थान के सभी प्रमुख ग्रन्थागारों में उपलब्ध हैं। शिवानन्द गोस्वामी चन्देरी से बीकानेर आए थे अत: इसकी अनेक प्रतियाँ बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी में हैं जो बीकानेर के राजा अनूपसिंह जी के नाम पर सदियों से स्थापित है।

यह ग्रन्थ अब राजस्थान सरकार के शोध संस्थान राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से चार भागों में प्रकाशित हो गया है। सन् 1674 में लिखा यह ग्रन्थ देश-विदेश के शोधार्थियों में सुपरिचित और सम्मानित है।

गोस्वामी शिवानन्द को राजस्थान के उन तीन तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थकारों में अग्रणी माना जाता है जिन्होंने संस्कृत में उत्कृष्ट काव्य रचना भी की है और तन्त्रशास्त्र के आकार ग्रन्थ अर्थात् विश्वकोषीय सन्दर्भ ग्रन्थ भी लिखे हैं। *सिंहसिद्धान्तसिन्धु* की तरह तन्त्रशास्त्र का विशाल सन्दर्भ लिखने वाले एक अन्य विद्वान् थे पं. सरयूप्रसाद द्विवेदी जिन्होंने *आगमरहस्य* नामक ग्रन्थ में तन्त्रशास्त्र की पूरी जानकारी दी है। ये बहुत परवर्ती थे और पूर्वी उत्तर प्रदेश के विद्वान् थे। भरतपुर में आकर रहे आचार्य अमृत वाग्भव भी तन्त्रशास्त्री और कवि थे। इन सबसे सदियों पूर्व हुए शिवानन्द गोस्वामी ने जितने तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थ लिखे उतने ही अन्य शास्त्रों के भी।

सिंहसिद्धान्तसिन्धु में केवल शक्तिपूजा के मन्त्र ही हों सो बात नहीं है। तन्त्रशास्त्रीय पद्धति से गणपति, सूर्य, नवग्रह, हरिहर, नारायण, वासुदेव, लक्ष्मी, हयग्रीव, वराह, नृसिंह, राम, हनुमान, कामदेव, उमा, महेश्वर, दक्षिणामूर्ति, मृत्युंजय, बटुकभैरव, सरस्वती, अन्नपूर्णा आदि की उपासना की जाए तो इनके मन्त्र

क्या होंगे—साधना के क्या प्रकार होंगे, पूजा कैसे की जाएगी यह सब शिवानन्दजी ने विस्तार से बताया है। खड्गरावणमन्त्र, क्षेत्रपालमन्त्र, चिन्तामणिमन्त्र आदि दुर्लभ और अज्ञात मन्त्र भी इसमें समाहित हैं।

तन्त्रशास्त्र सदियों से गोपनीय रखा जाता था। जिसके पास कोई तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ होता वह उसके बारे में किसी से भी चर्चा नहीं करता था किन्तु चन्देरी के राजा देवीसिंह के अनुरोध पर उस सब गोपनीय साधना का विवरण देकर शिवानन्द गोस्वामी ने जो कार्य किया उसकी ख्याति सारे देश में तत्काल फैल गई।

तभी तो बीकानेर के राजा अनूपसिंह ने इन्हें अपना गुरु बनाकर बुलाया। शिवानन्द जी कुछ समय बीकानेर रहे। उनके एक पौत्र बीकानेर में ही बस गये थे जिनके वंशज आज भी वहाँ बसे हुए हैं, राजसम्मानित और पर्याप्त भूसम्पत्ति के स्वामी होने के नाते सदियों से नगर में उनका सम्मान है। शहर के बीच एक मोहल्ला गोस्वामी चौक नाम से प्रसिद्ध है।

बीकानेर की अनूप लायब्रेरी में शिवानन्द जी के अनेक ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ आज भी सुरक्षित हैं। *सिंहसिद्धान्तसिन्धु* की पांडुलिपियाँ तो पूरे देश में फैली हुई थीं। आफ्रेक्ट ने पांडुलिपियों का जो विशाल सूची पत्र कैटेलागस कैटेलोगेरस नाम से बनाया था उसमें *सिंहसिद्धान्तसिन्धु* की पाण्डुलिपि भी अंकित है।

गोस्वामी शिवानन्द के रचना संसार का फलक आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और विशाल है। उन पर शोध करके विस्तृत लेखन करने वाले विद्वान् संस्कृत शिक्षा के राजस्थान सरकार में निदेशक रहे श्री के. माधवकृष्ण शर्मा ने उनके 35 ग्रन्थों पर परिचयात्मक लेखन कर के बताया है कि उन्होंने 10-12 शास्त्रों के ग्रन्थ लिखे थे।

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में *आह्निक रत्न, तिथिनिर्णय, व्यवहारनिर्णय, आचारसिन्धु, संक्षेप प्रायश्चित्त* आदि 6-7 ग्रन्थ तो बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। इसी ग्रन्थागार में *मुहूर्तरत्न, आख्यानविवेक, बालविवेक, खेचरतुंगादि प्रकाशिका* आदि ज्योतिष के ग्रन्थ भी शिवानन्द जी के लिखे संगृहीत हैं। व्याकरण के इन्होंने 6-7 ग्रन्थ लिखे जिनमें *कारककोश, सिंहसिद्धान्तदीपिका, तद्धितकोश, समासकोश, स्त्रीप्रत्ययकोश* आदि उल्लेखनीय हैं।

इन्होंने *गङ्गास्तुति, ईश्वरस्तुति, दुर्गास्तुति, त्रिपुरास्तुति, सौन्दर्यलहरी* आदि जो स्तोत्र लिखे हैं उनसे इनकी संस्कृत काव्य रचना की प्रतिभा भी प्रमाणित होती है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने आयुर्वेद का भी एक ग्रन्थ *वैद्यरत्नम्* शीर्षक से लिखा था जो वेंकटेश्वर प्रेस मुंबई से टीकासहित प्रकाशित हो चुका है।

शिवानन्द गोस्वामी शिरोमणि का सर्वाधिक विपुल अवदान मन्त्रशास्त्र को है जिसमें इनके लिखे 8-10 अत्यन्त उच्चकोटि के सन्दर्भ ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *सिंहसिद्धान्तसिन्धु* तो विश्वविदित है ही, उसके अतिरिक्त *महाविद्याप्रमोदलहरी, ललितार्चनदीपिका, ललितार्चनकौमुदी,*

श्रीविद्यार्चनदीपिका आदि ग्रन्थों में इन्होंने त्रिपुरसुन्दरी महाविद्या की उपासना का विधान बताया है। दस महाविद्याओं में प्रमुख त्रिपुर सुन्दरी को ललिता भी कहा जाता है।

वंशज

अनेक शास्त्रों और विद्याओं के पारंगत मनीषी शिवानन्द गोस्वामी सत्रहवीं सदी के अन्त में राजस्थान आकर बस गए थे। तभी से इनके वंशज राजस्थान के स्थायी निवासी हो गए। ये जयपुर और बीकानेर इन दो राजवंशी रियासतों के राज्यों में दो शाखाओं में फैले हुए हैं क्योंकि शिवानन्दजी के पुत्र श्री निकेतन जी के दो पुत्रों में से एक रमारमण जी जयपुर में स्थायी रूप से आकर बए गए थे और दूसरे राधारमण जी बीकानेर में राजसम्मानित होकर रहने लगे थे। इन परिवारों में भी तन्त्रशास्त्र की परम्परा निरन्तर चलती रही। राधारमण जी के वंशज भूऋषि गोस्वामी प्रसिद्ध तन्त्रशास्त्री हुए। इस वंश ने राजस्थान में तन्त्रशास्त्र को विशिष्ट अवदान दिया है वह इतिहास में अभिलिखित है। जब भी तन्त्रशास्त्र की परम्परा का उल्लेख होगा, गोस्वामी शिवानन्द जी का नाम उसमें स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा यह स्पष्ट ही है।

पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी तथा
पूर्व निदेशक संस्कृत शिक्षा एवं भाषाविभाग, राजस्थान सरकार
सी-8 पृथ्वीराज रोड, जयपुरम्-302001

आगमोक्त गुरुस्तोत्र विमर्श

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

आगमोक्त गुरुस्तोत्रों को ब्राह्ममुहूर्त में साधक पढ़कर दैनिक पूजा का प्रारम्भ करते हैं। वस्तुत: गुरुस्तोत्र का पठन, मनन एवं ध्यान गुरूपदिष्ट होता है। आगमोक्त तीन गुरुस्तोत्रों का भावार्थ इस लेख में विवेचित किया गया है—(1) श्रीगुरुपञ्चक, (2) श्रीगुरुपादुकापञ्चक, तथा (3) गुरुस्तवराज। साधक इस मार्ग पर चलने हेतु अनिवार्य रूप में इन स्तोत्रों के विधान को अपनाये क्योंकि गुरु-इष्टदेवता तथा मन्त्र वास्तव में तीन नहीं है अपितु एक ही है। अत: यह कार्य साधना के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम्।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि।।

हे मेरे गुरुवर आप आनन्दमय हो, आनन्द को करने वाले हो। आप प्रसन्न मुख हो, ज्ञानस्वरूप तथा स्वयं के बोधरूप हो। हे योगीन्द्र! पूज्य! भवरोग के चिकित्सक वैद्य! गुरुवर! मैं आपको नित्य भजता हूँ।

श्रीगुरुपञ्चकम्

नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतार संसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह।।1।।

हे शिवरूप स्वामिन् गुरुरूपी भगवन् आपको नमस्कार करता हूँ। आप विद्या के अवतार हो, सिद्धि प्रदान करने के लिए अनेक विग्रहों (रूप) को धारण करते हो।

नवाय नवरूपाय परमार्थस्वरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमो-भेद-भानवे चिद्घनाय ते।।2।।

आप नूतन, नवरूप तथा परमार्थ स्वरूपी हो। सभी तरह के अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले सूर्य हो। आप ज्ञानघन (ज्ञान के बादल) हो। आपको नमस्कार करता हूँ।

स्वतन्त्राय दयाकृप्त-विग्रहाय शिवात्मने।
परतन्त्राय भक्तानां भव्यानां भव्यरूपिणे।।3।।
विवेकिनां विवेकाय विमर्शाय विमर्शिनाम्।
प्रकाशानां प्रकाशाय ज्ञानिनां ज्ञानरूपिणे।।4।।

आप स्वतन्त्र, दयावान् विग्रह एवं शिवस्वरूपी हो, भक्तों के वश में होने वाले हो। आप भव्यों के भव्य हो, विवेकियों के विवेक हो तथा विमर्शन कर्ताओं के विमर्श हो तथा प्रकाशों के भी प्रकाश हो।

पुरस्तात् पार्श्वयोः पृष्ठे नमस्कुर्यामुपर्यधः।
सदा मच्चित्तरूपेण विधेहि भवदासनम्।।5।।

सामने से, अगल से, बगल से, ऊपर से एवं नीचे से सब तरफ से मैं आपको प्रणाम करता हूँ। सदा आप मेरे चित्त में अपना आसन जमाये।

इत्येवं पञ्चभिः श्लोकैः स्तुवीत यतमानसः।
प्रातः प्रबोध-समये जपात् सुदिवसं भवेत्।।6।।

इस प्रकार प्रातःकाल उठकर इन पाँच श्लोकों से ध्यान लगाकर स्तुति करे। इसके जप करने पर वह दिवस अच्छे दिवस में परिणत हो जाता है। यह इस स्तोत्र की महिमा है।

श्रीगुरुपादुकापञ्चकम्

श्रीविद्या साधक ब्राह्म मुहूर्त में सर्वप्रथम प्रातः स्मरण से गुरुवन्दना एवं ध्यान हेतु 'श्रीगुरुपादुकापञ्चकम्' स्तोत्र का पाठ करके गुरु, परमगुरु एवं परमेष्ठिगुरु की पादुका पूजन की भावना करते हैं। यह स्तोत्र पञ्चवक्त्र-शिव के द्वारा प्रोक्त है। इसका गम्भीर रहस्य साधकों के लिए अवश्य ज्ञातव्य है। इसलिये इसका भावानुवाद हिन्दी भाषा के माध्यम से प्रकट किया जा रहा है। इस स्तोत्र के गम्भीरार्थ को सुस्पष्ट करने हेतु पं. कालिचरण ने अमला संस्कृत टीका लिखी जिसका अनुवाद पं. कृष्णानन्द बुधौलिया ने किया था। यह ग्रन्थ श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्, दतिया से विक्रम संवत् 2042 में प्रकाशित हुआ है। इसका नाम है *'गुरुतत्त्वम् एवं पादुका पञ्चकम्'।* इस व्याख्या के अनुसार संक्षिप्त रूप में स्तोत्र का सरलार्थ एवं भावार्थ इस निबन्ध में प्रस्तुत है। विस्तार से जानने के लिए जिज्ञासु उक्त ग्रन्थ का अवलोकन करे।

जीवन की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का हेतु गुरु कृपा ही होती है। तन्त्रसाधना में गुरु का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। गुरु, मन्त्र एवं देवता में ऐक्य स्थापित होना ही साधना का प्रधान लक्ष्य होता है। अतः ब्राह्म मुहूर्त में सर्वप्रथम साधक को गुरु स्तोत्रों को ध्यान मग्न होकर पढ़ना एवं समझना चाहिए। श्रीविद्यासाधना में 'श्रीगुरुपादुकापञ्चकम्' को पढ़ने की अनिवार्य परम्परा है, जिसका भावार्थ इस प्रकार है।

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतम् ।
कुण्डलीविवरकाण्डमण्डितं द्वादशार्णसरसीरुहं भजे।।1।।

ब्रह्मरन्ध्र के कमल अर्थात् सहस्रार चक्र के मध्यम में द्वादश वर्णों से मण्डित एक कमल जुड़ा हुआ है। यह गुरु का स्थान है। यह सर्वदा नित्य, लग्न (जुड़ा हुआ है), अवदात (शुक्लवर्ण) अद्भुत एवं कुण्डली के विवरकाण्ड से मण्डित द्वादश वर्णात्मक कमल है जो उपासकों के लिए भजनीय है। सहस्रार कमल अधोमुख

है। द्वादश दल के कमल में ये द्वादश वर्ण अङ्कित है—हस्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं। अत: इसे द्वादशवर्ण कमल कहते हैं—वस्तुत: यह शिव गुरु का रहने का आसन स्थान है अत: साधक के लिए सर्वथा वन्दनीय है।

तस्य कन्दलितकर्णिकापुटे क्लृप्तरेखमकथादिरेखया।
कोणलक्षितहळक्षमण्डलीं भावलक्ष्यमबलालयं भजे।।2।।

अब कमल की कर्णिका के मध्य में त्रिकोण में गुरु का ध्यान लगाना चाहिये। यहाँ तीन रेखाएँ हैं जो अ, क तथा थ से प्रारम्भ होती है। इनके कोणों पर ह, ळ तथा क्ष अंकित है। इस त्रिकोण को भावना से लक्ष्य किया (देखा) जाता है जिसमें अबला अर्थात् शक्ति का आलय अर्थात् गृह है जिसको मैं भजता हूँ। वस्तुत: अबला यहाँ काम कला शक्ति का द्योतक है। इसके तीन बिन्दुओं से वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री तीन रेखाएँ अङ्कुरित होती है जो कि काम कला का स्वरूप है। इसे ही त्रिबिन्दु, त्रिशक्ति, त्रिमूर्ति भी कहा गया है। अबलालय नामक त्रिकोण अ, क, थ आदि तीन रेखाओं से मण्डित है। प्रथम वाम रेखा में 16 वर्ण—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ: षोडश स्वर है। द्वितीय ज्येष्ठा रेखा है जिसमें 16 वर्ण—क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त हैं। तृतीय रौद्री रेखा में थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स—ये 16 वर्ण हैं। अकार से विसर्ग पर्यन्त ब्रह्मरेखा है जो प्रजापति के रूप में है। ककार से तकार रूप पर्यन्त विष्णु रेखा है तथा थकार से शिव पर्यन्त शिव रेखा है। इस प्रकार तीन रेखा से मण्डित त्रिकोण ब्रह्मा-विष्णु एवं शिव स्वरूप है। इन्हें त्रिगुणात्मक भी तन्त्रों में माना गया है। त्रिकोण के भीतर ह, ळ, क्ष इन तीन वर्णों का अवस्थान है जो रेखाओं के बिन्दु के अङ्कुर स्थान है। इस प्रकार के शक्ति के घर रूपी त्रिकोण को मैं भजता हूँ।

तत्पुटे पटुतडित्कडारिमस्पर्द्धमानमणिपाटलप्रभम् ।
चिन्तयामि हृदि चिन्मयं वपुर्नादबिन्दुमणिपीठमुज्ज्वलम्।।3।।

उस त्रिकोण के अन्तर्गत मणिपीठ के ऊपर गुरु का चिन्मय शरीर स्वरूप का हृदय में ध्यान करता हूँ। मणिनिर्मित पीठ (सिंहासन) नाद एवं बिन्दु से युक्त है। नाद का वर्ण शुक्ल है बिन्दु का वर्ण रक्त है। पराशक्तिमय बिन्दु तीन भागों में विभक्त होता है जिसके तीन नाम हैं—बिन्दु, नाद और बीज। यह *शारदातिलक* में परिभाषित है—

पराशक्तिमय: साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुन:।
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदा: समीरिता:।।

अत: नाद का वर्ण शुक्ल है तथा बिन्दु का वर्ण रक्त है तथा उनके मध्य स्थित मणिपीठ का वर्ण पिङ्गल (पीला) विद्युत् (बिजली) की तरह चमकता हुआ है। अत: त्रिकोण में नाद, बिन्दु तथा मणिपीठ तीनों पृथक् है। इनको ही वह्नि, चन्द्र तथा सूर्य नाम से सम्बोधित किया गया है।

ऊर्ध्वमस्य हुतभुक्शिखात्रयं तद्विलासपरिबृंहणास्पदम्।
विश्वघस्मरमहोच्चिदोत्कटं व्यामृशामि युगमादिहंसयोः।।4।।

त्रिकोण के अधोभाग में नाद, ऊर्ध्व भाग में बिन्दु तथा मध्य में अति प्रकाशमान तडित् के सदृश पिङ्गल वर्ण का मणिपीठ है जो गुरु का उज्ज्वल सिंहासन है। उस पर आसीन रजताचल सदृश गुरु का ध्यान करता हूँ। यहाँ नाद, बिन्दु तथा मणिपीठ के मण्डल को चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय कहा गया है।

हंस पीठ के ऊपर नाद एवं बिन्दु के मध्य स्थित मणिपीठ के ऊर्ध्व त्रिकोण में श्री गुरु का अधिवास होता है जो कि कामकला रूप त्रिकोण के ऊर्ध्व भाग में स्थित है। अत: हंस ज्ञान के लिए हंस एवं त्रिकोण का ज्ञान आवश्यक है। मणिपीठ के ऊपर त्रिकोण की तीन रेखाओं में अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र का विमर्श होता है। इनके प्रकाश में मणिपीठ प्रकाशित होता है तथा इसका प्रतिबन्धक सांसारिक विषय रूप चिन्ता का त्याग कर सूर्य, चन्द्र तथा अग्निरूप शिखात्रय की दृढतर भावना मैं करता हूँ। बह्नि बिन्दु की अङ्कुरभूत वामरेखा, चन्द्रबिन्दु की अङ्कुरभूत ज्येष्ठ रेखा तथा सूर्य की अङ्कुरभूत रौद्रीरेखा है। इन तीन बिन्दुओं से मिलकर यह कामकला का त्रिकोण सुरचित है। यही क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र है। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया कहे अथवा अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र कहे एक ही बात है। इसी से सृष्टि, स्थिति तथा संहार होता है। इन पाँच पादुकाओं पर आधारित हंस पद है। जहाँ परम गुरु का स्थान है। यह सगुण स्वरूप है। हंस यह दो पद है। 'अहं स:' का संक्षेप 'हंस' है। यहाँ ऐक्य रहते हुए कुछ वासनाएँ शेष रहती है अत: हंस पद को त्रिकोण के भीतर दिखलाया गया है। 'हं' पुरुष का वाचक है 'स:' प्रकृति है अत: हंस पद प्रकृति पुरुषात्मक है—

हंकारो बिन्दुरित्युक्तो विसर्ग: स इति स्मृत:।
बिन्दु: पुरुष इत्युक्तो विसर्ग: प्रकृति: स्मृत:।।
पुं प्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्।।

इस हंस पद पर पहुँच कर साधक का परं शिव से एकाकार होता है। यह ऐक्य ही अमृतात्मक सरोवर है। यहाँ अज्ञान से उत्पन्न मोहान्धकार दूर हो जाता है तथा शिव से अभेदात्मक स्वात्मज्ञान उत्पन्न होता है।

मणिपीठ के ऊपर अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र के त्रिकोण की दृढतर भावना करनी चाहिए। विश्व को ग्रसने के कारण अग्नि ही वह्नि कही गई है क्योंकि यह समस्त विश्व को भस्मसात् करती है। इसलिए हुतभुक् आदि शिखात्रय कहते हैं।इनके विलास प्रकाश से परिवर्द्धित होने से मध्य में आदि हंस का युग है जो कि विश्व का भक्षक तथा महाप्रकाश स्वरूप है अत: सर्वाधिक बलवान् है। अथवा हंस के महाप्रकाशात्मक स्वरूप से विश्व के अविद्या या अन्धकार स्वरूप का सर्वथा नाश हो जाता है। शक्ति के त्रिकोणात्मक स्वरूप हंस के सामरस्यात्मक परमात्मा रूप से आविर्भाव होता है तथा जो कि हंस के इसी परमात्म रूप में विलय हो जाता है अत:मैं उस आदि हंस के युग की भावना करता हूँ।

तत्र नाथचरणारविन्दयोः कुङ्कुमासवपरीमरन्दयोः ।
द्वन्द्वबिन्दुमकरन्दशीतलं मानसं स्मरति मङ्गलास्पदम्।।5।।

पूर्व पद्य में गुरु के चरणारबिन्द के अधिकरणभूत आधारपीठ के निरूपण के पश्चात् इस श्लोक में ध्यान योग्य की सूचना दी गई है। मैं मणिपीठमण्डल पर विराजमान गुरु के चरणों का ध्यान करता हूँ। 'चरणारविन्दयोः' का विशेषण है 'कुङ्कुमासवपरीमरन्दयो' श्रीनाथ के चरणारविन्द से कुङ्कुम अर्थात् लाक्षारस के समान आभा से युक्त परमामृतरूपी मकरन्द जिन चरणों से झरता है। जिन चरणयुगलों का मकरन्द चन्द्रमा की किरणों से अनुस्यूत अमृत के समान शीतल है अर्थात् भक्तजनों के उत्तप्त मानस को शान्त करता है। जिन चरणों के ध्यान से दुःख एवं ताप की शान्ति होती है उन चरणों के स्मरण से मङ्गल अर्थात् अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् उनके चरणों में मन को लगाने से सर्वाभीष्ट की सिद्धि होती है। उन चरणारविन्द युगल को मन से स्मरण करता हूँ।

निषक्तमणिपादुका-नियमिताघकोलाहलं,
स्फुरत्किसलयारुणं नखसमुल्लसच्चन्द्रकम्।
परामृतसरोवरोदितसरोजसद्रोचिषं,
भजामि शिरसि स्थितं गुरुपदारविन्दद्वयम्।।6।।

इससे पूर्व पद्य में पीठ पर स्थित सहस्रार में गुरु पदारविन्द द्वय का ध्यान करने का आदेश है। इस पद्य में कहा है मणिपूर स्थित पादुका पर स्थित गुरु चरणारविन्द के ध्यान से पापों का क्षय हो जाता है अथवा विकल्प से अर्थ है कि वह पादुकाएं जिन में गुरुचरण रूप चिन्तामणि निषक्त है उनके द्वारा पापों का कोलाहल शान्त हो गया है। तात्पर्य यह है कि पञ्च पादुकाओं के ध्यान के पश्चात् गुरु चरणों का चिन्तन करने से पाप नष्ट हो जाते हैं। यहाँ पादुकाएं ध्यान रूप व्यापार के साधन रूप में प्रतिपादित है। गुरुचरण नवीन पल्लवों के समान अरुण है तथा उनके चरण नखों का प्रकाश चन्द्र प्रकाश के समान उज्ज्वल है। परामृत में उदित कमल की सुन्दर कान्ति के समान जिन चरणों की कान्ति है अर्थात् श्री गुरुचरणों से निरन्तर परामृत का प्रवाह होता है शिर में स्थित उन गुरुचरणारविन्दद्वय का भजन करता हूँ।

पादुकापञ्चकस्तोत्रं पञ्चवक्त्राद्विनिर्गतम्।
षडाम्नायफलप्राप्तं प्रपञ्चे चातिदुर्लभम्।।7।।

पादुकापञ्चकस्तोत्र पञ्चवक्त्र शिव के मुखारविन्द से कहा गया है। पादुकापञ्चक के स्तोत्र पाठ से षडाम्नाय के फल की प्राप्ति होती है। प्रकटित सांसारिक प्रपञ्च में यह अति दुर्लभ है।

यह श्लोक फलश्रुति है। चरणों के रक्षाभूत उपकरण का नाम पादुका (खड़ाऊ) है। पादुकाएं यहाँ पाँच निरूपित की गई है। अतः इस स्तोत्र को पादुकापञ्चकम् कहा है। प्रथम पादुका सहस्रदल है, द्वितीय पादुका

सहस्रार में स्थित अकथादि त्रिकोण है, तृतीय पादुका त्रिकोण के अन्तर्गत नाद, बिन्दु एवं मणिपीठ मण्डल है। चतुर्थ पादुका नाद बिन्दु के अध:स्थित हंस कहा गया है तथा मणिपीठ पर कल्पित त्रिकोण पाँचवीं पादुका है। पादुका की संख्या पाँच है। अथवा मतान्तर से इनका विकल्प भी है—1. पद्म, 2. त्रिकोण, 3. नाद-बिन्दु, 4. मणिपीठ मण्डल, 5. ऊर्ध्वस्थ त्रिकोणाकार काम कला के रूप में परिणत हंस। फलश्रुति सहित श्लोकों की संख्या सात है।

यह पञ्चपादुका स्तोत्र पञ्चवक्त्र शिव के मुखों से निर्गत है। *लिङ्गार्चनतन्त्र* में शिव के पाँच मुख इस प्रकार बताए हैं—1. सद्योजात पश्चिमाभिमुख, 2. वामदेव उत्तराभिमुख, 3. अघोर दक्षिणाभिमुख, 4. तत्पुरुष पूर्वाभिमुख एवं ईशान की स्थिति मध्य में है।

सद्योजातं पश्चिमे तु वामदेवं तथोत्तरे।
अघोरं दक्षिणे ज्ञेयं पूर्वे तत्पुरुषं स्मृतम्।।
ईशानं मध्यतो ज्ञेयं चिन्तयेद् भक्तितत्पर:।।

इन मुखों से यह स्तोत्र प्रकट हुआ है। इनसे षडाम्नाय का फल प्राप्त होता है। *शिवतन्त्र* के अनुसार वक्त्रन्यास में छ: विधान है। इनका मन्त्र है 'ॐ हं ह्रीं ओं ह्री तामसाय स्वाहा।' इस प्रकार वक्त्र न्यास के ध्यान के अनुसार नीलकण्ठ नामक छठवां अधोवक्त्र है जो कालकूट के समान है—

नीलकण्ठमधोवक्त्रं कालकूटस्वरूपिणम्।

इस प्रकार शिव के छ: मुख सिद्ध होते हैं। शिवप्रोक्त यह स्तोत्र सभी षड्वक्त्रों का कथन है। प्रत्येक आम्नाय की पूजा में प्रयुक्त मन्त्रों में उनका फल विहित है। जो फल उन स्तोत्रों से प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण फल पादुका पञ्चक के ध्यान से होता है। समस्त माया प्रकटित इस संसार में जो-जो दुर्लभ पुण्यजनक कष्टसाध्य तप के फल है वह सब सुलभता से गुरुपादुका के ध्यान मात्र से प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार इस स्तोत्र की महिमा समझनी चाहिए।

गुरुस्तवराज:

ध्यानम्—

शरच्चन्द्रसमाभासं शरत्पकङ्कजलोचनम्।
ईषद्धासां शारदीयं पूर्णेन्दुसदृशाननम्।
दिव्यास्रगम्बरधरं दिव्यं गन्धानुलेपनम्।
सुरक्तशक्तिसंयुतं वामभागमनोहरम्।
वराभयकराम्भोजसर्वलक्षणलक्षितम्।
सहस्रारे महापद्मे गुरुं शिरसि चिन्तयेत्।।

शरत् चन्द्र के समान श्वेत कमल के से नेत्र थोड़ा मुसकराते हुए शरत् के पूर्ण चन्द्रमा के सदृश मुख कान्तिवाले, दिव्य पुष्प वस्त्र और चन्दन को धारण करे हुए सुन्दर, रक्त वर्ण वाम भाग में मनोहर शक्ति को बैठाये हुए, वर, अभय को धारण करते हुए सर्व लक्षणों से युक्त ऐसे गुरु को अपने शिर के ब्रह्मरन्ध्र वाले सहस्र दल कमल में ध्यान करे।

ॐ ब्रह्मस्थानसरोजमध्यविलसच्छीतांशुपीठे स्थितम् ।
स्फूर्यत्सूर्यरुचिं वराभयकरं कर्पूरकुन्दोज्वलम् ॥
श्वेतस्रग्वसनानुलेपनयुतं विद्युद्रुचाकान्तया।
संश्लिष्टार्द्धतनुं प्रसन्नवदनं वन्दे गुरुं सादरम् ॥1॥

सहस्र दल कमल में स्थित चन्द्र पीठ में बैठे हुए जाज्वल्यमान सूर्य के समान प्रकाशमान वर अभय को धारण करे हुए कपूर, कुन्द के अनुसार प्रभा श्वेत फूलों की माला श्वेत वस्त्र और चन्दन लगाये बिजली के समान कान्ति वाली अर्धाङ्गिनी के साथ गुरु की आदर पूर्वक वन्दना करता हूँ॥1॥

मोहध्वान्तमहावृतां ग्रहवतां चक्षूंषि चोन्मीलयन्।
यश्चक्रे रुचिराणि तानि दयया ज्ञानाञ्जनाभ्यञ्जनैः॥
व्याप्तं यन्महसा जगत्त्रयमिदं तत्त्वप्रबोधोदयम् ।
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥ 2॥

मोह रूप अन्धकार से ग्रसे हुए मनुष्यों के नेत्रों को खोलकर, अपनी दया से ज्ञान के सुरमें से दया करके जिसने रुचिर बना दिया तथा जिसका तेज तीनों जगत् में व्याप्त है तत्त्व का ज्ञान प्रकट करने वाले सब सिद्धि देने वाले शिव स्वरूप अपने गुरु की वन्दना करता हूँ।।2।।

मातङ्गी भुवनेश्वरी च बगला धूमावती भैरवी ।
तारा छिन्नशिरोधरा भगवती श्यामा रमा सुन्दरी ॥
दातुं न प्रभवन्ति वाञ्छित फलं यस्य प्रसादं विना।
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥3॥

मातङ्गी, भुवनेश्वरी, बगला, धूमावती, भैरवी, तारा, छिन्नमस्ता, भगवती काली, लक्ष्मी, त्रिपुरसुन्दरी यह सब जिस गुरु के बिना प्रसन्न हुए वांछित सिद्धि नहीं दे सकतीं ऐसे शिवस्वरूप सब सिद्धि देने वाले अपने गुरु की वन्दना करता हूँ ॥ 3 ॥

काशी-द्वारवती-प्रयागमथुरायोध्यागयावन्तिकाः।
माया-(हरिद्वार) पुष्करकाञ्चिकोत्कलगिरिश्रीशैलविन्ध्यादयः ॥
नैते तारयितुं भवन्ति कुशलाः यस्य प्रसादं विना ।
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थसिद्धि प्रदम् ॥ 4 ॥

काशी, द्वारकापुरी, प्रयाग, मथुरा, अयोध्या, गया, अवन्तिका (उज्जैन) माया (हरिद्वार) पुष्कर, काञ्ची (विष्णु काञ्ची, शिव काञ्ची) उत्कल (उड़ीसा) श्री शैल, विन्ध्याचल यह सब भी शिव समान गुरु की बिना कृपा के तारने को समर्थ नहीं ऐसे सर्व सिद्धि देने वाले निज गुरु की वन्दना करता हूँ॥4॥

रेवा सिन्धु सरस्वती त्रिपथगा सूर्यात्मजा कौशिकी ।
गङ्गासागरसङ्गमाद्रितनया-लोहित्यशोणादयः॥
नालं प्रोक्तफलप्रदानसमये यस्य प्रसादं विना।
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥ 5॥

नर्मदा, सिन्धु, सरस्वती, गंगा, यमुना, कौशिकी, गंगासागर, संगम आद्रितनया, लोहित्य (ब्रह्मपुत्र), शोणभद्रादि यह सब नदियाँ भी जिसके बिना सिद्धि दान करने के विषय में समर्थ नहीं ऐसे शिव स्वरूप सब सिद्धि देने! वाले निज गुरु को वन्दना करता हूँ ॥ 5 ।।

सत्कीर्तिर्विमला यशः सुकविता पाण्डित्यमारोग्यता।
वादे वाक्पटुता कुले चतुरता गाम्भीर्यमक्षोभिता ॥
प्रागल्भं प्रभुता गुणे निपुणता यस्य प्रसादाद्भवेत् ।
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥ 6 ॥

सुन्दर कीर्ति, विमल यश, अच्छी कविता, पंडिताई, आरोग्यता, शास्त्रार्थ में वाक् पटुता, कुल में चतुरता, गम्भीरता, सहनशक्ति, प्रगल्भता, प्रमुख गुण में निपुणता यह सब गुण जिसके प्रसाद से प्राप्त होते हैं जो सब सिद्धि के देने वाले हैं ऐसे शिव स्वरूप निज गुरु की वन्दना करता हूँ। ।।6।।

लोकेशो हरिरम्बिका स्मरहरो मातापिताभ्यागताः।
आचार्यः कुलपूजितो पतिवरो वृद्धस्तथा भिक्षुकः ॥
नैते यस्य तुलां व्रजन्ति कलया कारुण्यवारान्निधेः।
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥ 7॥

इन्द्रादिक, लोकपाल, विष्णु, देवी, महादेव, माता, पिता, अभ्यागत, आचार्य, कुल गुरु, पति श्रेष्ठ, विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध, भिक्षुक यह सब जिस करुणा के समुद्र की तुलना करने पर जिसकी एक कला के बराबर भी नहीं हो सकते ऐसे सब प्रकार की सिद्धि देने वाले निज गुरु की वन्दना करता हूँ॥7॥

ध्यानं दैवतपूजनं गुरुतपो दानाग्निहोत्रादयः।
पाठो होमनिषेवनं पितृमखा ह्यभ्यागतार्चा बलिम् ॥
एते व्यर्थफला भवन्ति नियतं यस्य प्रसादं विना।
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥ 8॥

ध्यान, देव पूजन, तीव्रतप, दान, अग्निहोत्र, पाठ, हवनादिक, श्राद्ध, अभ्यागतों का विविध पूजन, बलिदान यह सब भी जिसके बिना निष्फल होय ऐसे शिव स्वरूप सब सिद्धि देने वाले निज गुरु की वन्दना करता हूँ ॥ 8॥

पूर्वाशाभिमुखीकृताञ्जलिपुटः श्लोकाष्टकं यः पठेत्।
पौरश्चर्यविधिं विनापि लभते मन्त्रस्य सिद्धिं पराम्॥
नो विघ्नैः परिभूयते प्रतिदिनं प्राप्नोति पूजाफलम्।
देहान्ते परमं पदं हि विशते यद्योगिनां दुर्लभम् ॥ 9॥

पूरब की ओर मुख करके हाथ जोड़ता हुआ इन आठों श्लोकों को जो पढ़ता है वह बिना पुरश्चरण किये हुए मन्त्र की सिद्धि को प्राप्त होता है तथा कोई विघ्न न होते हुए पूजा के फल को प्राप्त करता है और अन्त में योगियों को भी दुर्लभ है जो परमपद उसको प्राप्त होता है ।। 9 ।।

वामकेश्वरतन्त्रे पार्वतीश्वरसंवादे गुरुस्तवराजः सम्पूर्णः ॥

वामकेश्वर तन्त्र में कहा गया पार्वती शिव के संवाद में गुरुस्तव संपूर्ण हुआ॥

यह गुरुस्तवराज स्तोत्र शिष्य की सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। गुरु की महिमा के वर्णन से गुरु प्रसन्न होते हैं। उसके सभी विघ्नरूपी संकटों से गुरु तुरन्त रक्षा कर देते हैं। शिष्य की साधना में जो भी कमी होती है वह इस गुरुवन्दना से परिपूर्ण हो जाती है। शिष्य को सम्पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। इसलिये तन्त्र साधना में गुरु का माहात्म्य सर्वोपरि सिद्धान्तित किया गया है। शिष्य की परिस्थितियाँ विकट हो, भगवान् भी नाराज हो तो भी गुरु की प्रसन्नता से उनका समाधान हो जाता है क्योंकि आगम घोषणा करते हैं—**हरे रुष्ठे गुरुस्त्राता।** अतः गुरुवन्दना को परमपद की प्राप्ति का सहज मार्ग माना गया है।

पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021

शब्दब्रह्म एवं उसकी शक्तियों का दार्शनिक विमर्श

कीर्तिका भट्टाचार्य

व्याकरणदर्शनाभिमत परमसत् शब्दब्रह्म एक व अद्वितीय है उससे पृथक् कुछ भी नहीं है परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि वह परम तत्त्व विश्व रूप में विवर्त्तित होता है।[1] उस एकमात्र भाव के अनेक परिणाम देखे जाते हैं।[2] अब प्रश्न यह उठता है कि यह किस प्रकार सम्भव है कि शब्दब्रह्म एक ही समय में एक भी कहा गया है व अनेक भी। इसका उत्तर भर्तृहरि दर्शन यह स्थापित कर देता है कि यह परमतत्त्व सक्रिय व सशक्त सत्ता है, यद्यपि यह एक है और कभी अपने एकत्व का परित्याग नहीं करता तथापि अनेक शक्तियों से युक्त होने के कारण यह अनेक बन जाता है। परमतत्त्व की शक्तियों की विविधता के आधार पर विश्व के वैचित्र्य की व्याख्या करना अधिक सरल है। अपेक्षाकृत परतत्त्वों की अनेकता के आधार पर जैसा कि दूसरे कुछ सम्प्रदाय करते हैं।[3]

आचार्य भर्तृहरि ने शक्ति शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। बाद में आविर्भूत होने और व्यक्त बनने के लिए जो अव्यक्त रूप में स्थित रहता है, वह शक्ति है। जब यह आविर्भूत होती है और प्रकट बनती है, यह व्यक्ति बन जाती है। इस अर्थ में विश्व के सभी पदार्थ, वैशेषिक आदि दर्शन के सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत सभी तत्त्व, अनुभव के तार्किक विश्लेषण के आधार पर, शब्दतत्त्व में शक्तियाँ माने जा सकते हैं क्योंकि आचार्य भर्तृहरि के अनुसार चूँकि वे व्यक्त बनते हैं, अत: ये सभी इनमें अव्यक्त रूप में है। अत: द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, दिक्, काल, क्रिया, साधन इत्यादि शब्दब्रह्म की शक्तियाँ है जो उसकी एकता का अतिक्रमण नहीं करतीं।[4]

व्याकरणदर्शन में ब्रह्म की सभी शक्तियों में 'काल शक्ति' को सर्वोपरि रखते हुए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। यह शब्दब्रह्म की प्रमुख शक्ति है जिससे वह स्वतन्त्र कर्त्ता कहा जाता है।

काल की वास्तविकता एवं स्वरूप आदि से सम्बन्धित जिज्ञासाओं के समाधान अतिप्राचीन काल से वैदिक व दार्शनिक ऋषि खोजते आए हैं। प्राचीन ऋषियों ने संसार की परिवर्तनशीलता को देखते हुए इस परिवर्तन की अवस्था विशेष के बोध के लिए और अवस्थाओं के पूर्वापरसम्बन्ध ज्ञान के लिए जिस उपाय का आश्रय लिया वह उपाय है 'काल'।

काल शब्द का प्रथमप्रयोग '*ऋग्वेद*' में मिलता है।[5] पुरुष सूक्त में काल को पुरुष का विकार कहा गया है। यह सब भूत भविष्यद्रूप (काल) भी पुरुष ही है।[6] *अथर्ववेद* 19.53 और 19.54 में काल को परमेश्वर के समान सर्वशक्तिशाली माना गया है। वह भुवनों का पोषण करने वाला है, सभी भुवनों में व्यापक है। उससे बढ़कर अन्य कोई तेजस नहीं है। वही स्रष्टा व भर्त्ता है।

व्याकरण के अनुसार काल के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ अनेक है। काल शब्द में प्रयुक्त 'कल' धातु अनेकार्थक है। *पाणिनीय धातुपाठ* में कुल शब्दसंख्यानयो: (भ्वादिगण), कुल क्षेपे (चुरादिगण) कल गतौ संख्याने च (चुरादिगण) इस रूप में पठित है।[7] आचार्य रघुनाथ शर्मा अम्बाकर्त्रीकार के अनुसार काल शब्द की व्युत्पत्ति 'कल क्षेपे' इस स्वार्थिक 'णिच्' प्रत्ययान्त धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर होती है।[8] आचार्य यास्क ने काल शब्द की व्युत्पत्ति गत्यर्थक 'काले' धातु से (कालि+घञ्=काल) मानी है; जिसका अर्थ है 'गति'-'काल:' 'कालयेतेर्गतिकर्मण:'।[9] 'कलयत्यायु: काल:' इस प्रकार क्षीरस्वामी ने गति अर्थ की ओर संकेत किया है।[10]

आचार्य भर्तृहरि ने काल पर विचारक एक दार्शनिक की भाँति किया है। उनके शब्द हैं— 'शक्त्यात्मदेवतापक्षे भिन्नं कालस्य दर्शनम्।'[11] इनके काल सम्बन्धित अपने स्वतन्त्र विचार है। काल सम्बन्धित सम्पूर्ण गवेषणा का केन्द्र यह है कि काल शब्दब्रह्म की प्रमुख शक्ति है, उसका स्वातन्त्र्य या कर्तृशक्ति है, जो पदार्थों की उत्पत्ति व उपसंहार में कारण है। काल नामक स्वातन्त्र्य शक्ति से समस्त परतन्त्र जन्म लेने वाले पदार्थ (शक्तय:) व्याप्त रहते है, अथवा काल की वृत्ति अर्थात् सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि आदि का अनुगमन करते हैं।[12]

शब्दब्रह्म के विवर्त का हेतु है—दूसरे को अर्थ अवबोध कराना। उसके अखण्ड स्वरूप में काल का कोई भी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। अत: शब्दतत्त्व वस्तुत: कालातीत है। परन्तु यदि शब्दतत्त्व जब जगत् की प्रक्रिया के लिए अर्थ-भावना से विकसित होता है तो उस दशा में उसका विवर्त्तभूत रूप कालाबद्ध होता है।

सृष्टिसृजन वेला में जिस प्रकार ब्रह्मवादियों के यहाँ 'माया' को ब्रह्म की शक्ति के रूप में कल्पित किया गया है उसी प्रकार यहाँ पर भी 'काल' को बड़े ही तार्किक रूप से शब्दतत्त्व की प्रमुख शक्ति माना है—

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता:।
जन्मादयो विकारा षड् भावभेदस्य योनय:।।[13]

अर्थात् जिस शब्दब्रह्म की आरोपित कलाओं या भेदों (लव, निमेषादि और अतीत, अनागत आदि) वाली कालशक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति अथवा अविद्या शक्ति) का आश्रय लेकर जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और नाश ये षड् भावविकार अथवा मूर्ति और क्रिया-भेद के कारण बनते हैं।

आचार्य भर्तृहरि के अनुसार कालशक्ति लोकयन्त्र का सूत्रधार है।[14] काल विश्वात्मा है[15] और विश्वात्मा एक परब्रह्म नामक सत्य भाव है।[16] उसमें नानाशक्ति योग समाविष्ट हैं। उस शक्ति योग द्वारा भावों की कला को वह बिखेरता है (कालयति) इसलिये उसे काल कहते हैं।[17] हेलाराज ने भर्तृहरि के काल विचार का निष्कर्ष दो बार स्वातन्त्र्य शक्ति के रूप में व्यक्त किया है—

'स विभु: स्वतन्त्र:। अत एव 'स्वातन्त्र्यशक्ति: काल:' इति *वाक्यपदीये* सिद्धान्तितम्।'[18]

तथा—

कालाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिर्ब्रह्मण इति तत्रभवद्भर्तृहरेरभिप्राय:।[19]

यह उल्लेख पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने यथास्थान किया है।[20] शब्दब्रह्म की यही स्वातन्त्र्यशक्ति उसकी कर्तृशक्ति है। इनमें कोई भेद नहीं है। ब्रह्म की कर्तृशक्ति क्रम रूप पाकर काल शक्ति के रूप में व्यक्त होती है। हरिवृत्ति के अनुसार—

तस्य क्रमवद्भि: मात्रारूपै: कर्तृशक्ति: प्रविभाज्यमाना विकारमात्रा गतं भेदरूपं तत्राध्यारोपयति।[21]

आचार्य वृषभदेव ने भी स्वातन्त्र्य को कर्तृशक्ति के रूप में ग्रहण किया है—

स्वातन्त्र्य कर्तृशक्ति:। पदार्थनिष्पादनोपसंहारयोग्या कर्तृशक्ति:।[22]

काल की शक्तियाँ

काल एक होते हुए भी लोकव्यवहार की व्यवस्था के लिए काल की शक्तियाँ भी अपेक्षित हैं। शेष सभी शक्तियाँ काल के अधीन है। समस्त कारण शक्तियाँ काल की आज्ञानुसार ही कार्य करती हैं। अतएव प्रत्येक वस्तु का सहायक कारण 'काल' है। समस्त विकार-कार्य या पदार्थ, जो अपनी उत्पत्ति में अनेक कारणों की अपेक्षा रखते हैं और जिनका जन्म-स्वरूपोपलम्भ अभी अवरुद्ध है, उनके जन्म की अनुज्ञा देकर काल सहकारी कारण बनता है।[23] आचार्य भर्तृहरि ने कालशक्ति की सहकारिणी कई अवान्तर शक्तियाँ स्वीकार की हैं—प्रतिबन्ध व अभ्यनुज्ञा, जरा, क्रम और समवाय शक्ति।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्ति

व्याकरण नय में अङ्गीकृत काल की प्रमुख शक्तियों में 'प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा' नाम्ना द्विधा शक्तियाँ अभिप्रेत है। यथा—

ततश्च प्रतिभावं वैश्वरूपस्य प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां शक्त्यवच्छेदेन क्रमवानिवाभा-सोपागमो लक्ष्यते।[24]

सम्पूर्ण भावों-पदार्थों का उन्मीलन और निमीलन, जन्म और नाश इन दो शक्तियों से परिचालित है। पौर्वापर्य अथवा क्रम इन्हीं शक्तियों की क्रिया है। यदि प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा अपने व्यापार न करें तो भावों की युगपत् उत्पत्ति होने लगे, बीज अङ्कुर, नाल, काण्ड आदि में पौर्वापर्य क्रम विच्छिन्न हो जाय और सर्वत्र सांकर्य छा जाए।[25]

किसी क्रिया अथवा भाव के साधनशक्तियों के व्यापार का विघात, विनाश या उनके जन्म को लयावस्था में रखना 'प्रतिबन्ध' है और इसके विपरीत इन साधनशक्तियों के जन्म या उत्पत्ति में अनुमति ही 'अभ्यनुज्ञा' है।[26] वस्तुत: अतीत व अनागत प्रतिबन्ध का कार्य क्षेत्र है तथा वर्तमान अभ्यनुज्ञा का। सृष्टि की प्रक्रिया के लिए किसी वस्तु का उत्पन्न होना ही पर्याप्त नहीं है। अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसका स्थित रहना भी आवश्यक है अत: काल के 'अभ्यनुज्ञा' व्यापार से न केवल वस्तुओं की उत्पत्ति होती है अपितु उनकी निरन्तरता भी बनी रहती है। जब वस्तुएँ अपना उद्देश्य पूर्ण कर लेती है उनमें किसी प्रकार का सामर्थ्य शेष नहीं रहता तब तक उनका लय या विनाश काल की 'प्रतिबन्ध' नामक अवरोधक शक्ति के कारण होता है। इस शक्ति के दो पक्ष है यह समय के पूर्व वस्तुओं को उत्पन्न होने से रोकती है और समय पूरा हो जाने के बाद उन्हें जारी रहने से रोकती है।[28]

जराशक्ति

प्रतिबन्ध का ही एक स्वरूप अथवा पक्ष है 'जराशक्ति'। आचार्य भर्तृहरि ने लोक से वृद्धावस्था के स्वरूप से इस शक्ति को विचार क्षेत्र में लिया है। यह वस्तुओं की शक्तियों को क्षीण करने का कार्य करती है। इसीसे भावों का ह्रास (जीर्णत्व) होता है।[29] चर-अचर सब के यौवन को कुण्ठित करने वाली 'जरा'शक्ति-विघातक मानी जाती है और शक्ति विरोधी दूसरे जरा-जन्य दोष का कारण होती है।[30]

क्रमशक्ति

काल अपनी शाश्वत वृत्ति (प्रतिबन्ध व अभ्यनुज्ञा) से विश्व-अवयवों में विभक्त होता है और यह विभाग क्रमिक होता है।[31] अत: अवयवों का क्रम से अवभास होना ही 'क्रमाख्या शक्ति' का काम है। क्रम से उदय और क्रम से प्रत्यस्त होना दोनों ही उसकी क्रिया है। यह क्रम 'क्रिया' संज्ञा को प्राप्त करते हैं।[32] क्रिया अथवा भाव सतत परिणामी एवं परिवर्तनशील है और इस परिवर्तन का आधार 'क्रम' ही है।

समवाय शक्ति

समवाय शक्ति वह शक्ति है जो कार्यकारण भेद की बाधिका है व कारण और कार्य के भेद को तिरोहित करती है। इसी शक्ति के प्रभाव से कारण के साथ कार्य की एकत्व की-सी प्रतीति होती है, कार्य-कारण अभिन्न से लगने लगते हैं।[32] कारण का कार्योत्पत्त्यनुकूल सशक्त होना, कारण से कार्य का जन्म व कार्य का कारण में लीन होना यह सभी व्यापार 'समवाय शक्ति' से ही सम्भव होते हैं।

काल का वास्तविक स्वरूप—अखण्ड, नित्य तथा विभु

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि काल नानाविध कार्यों (उत्पत्ति, स्थिति व विनाश) का नियन्ता है तथा काल में भी नानात्व (भूत, वर्तमान, भविष्य) रूप में व्यवहार होता है[34] परन्तु काल में जो भेद प्रतीति होती है, वह औपाधिक ही है, वस्तुत: तो अभेद ही है।[35]

व्याकरणशास्त्र में काल को अखण्ड, अकृतक, अविभाज्य, नित्य, विभु व अमूर्त्त माना गया है।[36] भेद और औपाधिक स्वीकृत है। भेद का प्रयोजन लोक व्यवहार है। यह भेद मात्र बुद्धि की कल्पनाएँ हैं।

काल की सबसे महत्त्वपूर्ण उपाधियाँ हैं 'क्रियाएँ'। वे काल द्वारा क्रम में प्रकट की जाती है। उन्हीं के कारण भूत, भविष्य तथा वर्तमान के भेद इस पर आरोपित होते हैं। काल के तीन विभागों के अपने उपविभाग हैं जो कुल मिलाकर ग्यारह है।[37] भूत के पाँच भेद, भविष्य के चार भेद और वर्तमान के दो भेद।[38] क्रिया का आरम्भ-काल, क्रिया-काल तथा समाप्ति-काल—ये तीन विभाग विभिन्न अवस्थाओं में व्यापारों के भेद के कारण होते हैं। जबकि वह एक है। जिस तरह मार्ग का दूर होना या समीप होना चलने वाले की गति पर निर्भर है न कि स्वभावत: मार्ग भेद है उसी तरह दीर्घकाल या अल्पकाल क्रिया-सन्तान की दीर्घता या अल्पता पर निर्भर है और न ही पदाति के रुक जाने से मार्ग समाप्त होता है। अत: स्वभावत: काल मार्ग की तरह अभिन्न, एक व नित्य है।[39]

प्रकृति की प्रवृत्ति के भेद के कारण, काल को वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं में विभाजित किया जाता है। यह उसी प्रकार है जैसे एक ही पुरुष को उसके द्वारा किये जाने वाले काम के भेद से बढ़ई, लौहार आदि कहना।[40]

अत: काल के सारे विभाग असत् है, भूत, भविष्य, वर्तमान आदि विभाग का केवल व्यवहारिक मूल्य है, काल-विभाग उन क्रियाओं पर आश्रित हैं जो इसके द्वारा निष्पादित की जाती है।[41] यह सम्पूर्ण प्रक्रिया बुद्धि आश्रित है[42] जो कि अविद्या अहित है। अत: इस विश्व प्रपञ्च की विविधता के निमित्त कारण-सत्ताओं की बहुलता अथवा एक सत्ता के वास्तविक विभाग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। काल के तीन विभागों को वास्तविक मानने की अपेक्षा काल की तीन शक्तियाँ मानना अधिक उचित है।[43] इस प्रकार समग्र भाव तथा दृश्य प्रपञ्च काल के गर्भ में है जो क्रियाशील है एंव जो निरन्तर उनकी सृष्टि तथा संहार यथासमय करता रहता है और इस तरह सांसारिक व्यवस्था को सम्पादित करता है।

उपर्युक्त विभिन्न सत्ताएँ शब्दार्थ स्वरूप है ओर यह शब्द और अर्थ शक्ति रूप से बुद्धि में सदैव एकत्व को प्राप्त रहते हैं। जैसाकि कहा गया है—अक्रम श्रोतृबुद्धिस्थ शब्द वर्णों, पदों एवं वाक्यों के रूप में विभक्त होकर अर्थ का वाचक बनता है। वहाँ बुद्धि में अर्थाकारात्मक शब्द अभेद को प्राप्त करता है। बौद्ध शब्द और अर्थ का तादात्म्य होता है। बौद्ध शब्द से ही अर्थ की प्रतीति होती है। यही वाच्य-वाचक व्यवस्था

है।[44] शब्द और अर्थ के परमार्थत: अभिन्न होने पर भी व्यवहार में उनकी पृथक् क्रिया देखी जाती है। वस्तुत: शब्द और अर्थ का तत्त्व एक ही है जो निश्चित और नित्य है।[45]

अत: ज्ञानाश्रय बुद्धिस्थ शब्दार्थ ही बाह्यार्थ रूप में अनेकधा प्रतिभासित होता है,[46] यह प्रत्यक्ष स्थावर-जङ्गम, जगत् 'शब्द' का ही परिणाम है।[47] जो तत्त्वत: एक है उसे अनेकधा विवेचन करने की शक्ति बुद्धि में है। शब्द वैसे अर्थ सूचित करते हैं जैसे वे हमारे ज्ञान में आते हैं।[48] अर्थों के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान विकल्पनात्मक होते हैं। ज्ञान, प्रत्यय या चेतना का विषय के आकार में आकारित होना एक प्रकार का कालुष्य है।[49] इस प्रकार बुद्धि ही संसार के पदार्थों का विवेचन जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि रूपों में करती है एवं इनके लिए जातिवाचक, द्रव्यवाचक, गुणवाचक व क्रियावाचक शब्दों का प्रयोग करती है।

निष्कर्षत: यह प्रतिपादित होता है कि सभी शब्द प्रत्यक्षत: तो जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि पदार्थों का बोध कराते हैं एवं परोक्षत: सर्वोच्च सत्ता का। सभी शब्दों का वाच्य सत्ता है। सर्वोच्च सत्ता से तात्पर्य परब्रह्म से है जिसे व्याकरणदर्शन में शब्दब्रह्म कहा गया है। यह शब्दब्रह्म महासामान्य के रूप में सर्वत्र एकत्व स्थापित करता है। यही परमद्रव्य उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न व्यक्ति रूप में प्रकट होता है यही सगुण रूप में सभी पदार्थों के विभिन्न धर्म स्थापित करता है यही पर भाव है जो अपनी क्रियाशक्ति अथवा कालशक्ति के प्रकर्ष से सम्पूर्ण विकारों एवं परिणामों का एकमात्र कारण है। यह ज्ञानाश्रया बुद्धि का सर्वोत्कृष्ट परम ज्ञान है।

सन्दर्भ

1. विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:। — *वाक्यपदीय,* 2/2
2. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदु:।
   छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तते।। — *वाक्यपदीय*, 2/222
3. सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णय:।
   भावानामात्मभेदस्य कल्पना स्यादनर्थिका।। — *वाक्यपदीय*, 3/2/22
4. *भर्तृहरि का वाक्यपदीय*, के. ए. एस.अय्यर, अनुवादक डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, राजस्थान हिन्दी अकादमी, जयपुर, पृ. 227
5. कृतं यच्छ्वध्नी विचिनोति काले। — *ऋग्वेद*, 20/42/1
6. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्। — *ऋग्वेद*, 20/20/2
7. पाणिनीय, *अष्टाध्यायी*, *धातुपाठ*, 02/0570, 20/0013, 20/0404
8. 'कल क्षेपे' इति चौरादिकात् स्वार्थिकणि जन्तात् पचाघच्। — *वाक्यपदीय*, 3/9/24 पर *अम्बाकर्त्री व्याख्या*, पृ. 505
9. *निरुक्त*, 2/25, पृ. 56
10. *अमरकोश*, 2/2/51
11. *वाक्यपदीय*, 3/1/62

12. कालाख्येन हि स्वातन्त्र्येण सर्वा: परतन्त्रा: जन्मवत्य: शक्त्य: समाविष्टा: कालशक्ति: वृत्तिमनुपतन्ति। — *वाक्यपदीय*, 2/3 की स्वोपज्ञ वृत्ति।
13. *वाक्यपदीय*, 2/3
14. तं अस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते। — *वाक्यपदीय*, 3/1/4
15. काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते। — *वाक्यपदीय*, 3/1/22
16. विश्वात्मैक एव परब्रह्माभिधान: सत्यो भाव:। — *वाक्यपदीय*, 3/2/24 पर हेलाराज की वृत्ति।
17. जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभि: प्रवृत्तिभि:।
स कला: कलयन्सर्वा: कालाख्यां लभते विभु:।— *वाक्यपदीय*, 3/1/24
18. *वाक्यपदीय*, 3/1/24 पर हेलाराज की वृत्ति।
19. *वाक्यपदीय*, 3/1/62 पर हेलाराज की वृत्ति।
20. (क) यस्य ... ब्रह्मण: ... तस्य स्वातन्त्र्यशक्ति: काल:। — *वाक्यपदीय* 2/3 पर भावप्रदीप वृत्ति।
(ख) He (Bhartrhari) Considers kala as an independent power of Brahaman. (The Kalasamuddesh of Bhartrhari's *Vakya Padiya* : Together wirh Helaraja's commentary, Sharma Peri Sareswara, p. 26
21. *वाक्यपदीय*, 2/3 पर स्वोपज्ञ वृत्ति।
22. *वाक्यपदीय*, 2/3 पर पद्धति टीका।
23. सर्वेषां हि विकाराणां कारणान्तरेष्वपेक्षावतां प्रतिबद्धजन्मनामभ्यनुज्ञया सहकारिकारणं काल:। — *वाक्यपदीय*, 2/3 पर स्वोपज्ञ वृत्ति।
24. *वाक्यपदीय*, 2/3 पर स्वोपज्ञ वृत्ति।
25. यदि न प्रतिबन्ध्नीयात्प्रतिबन्धं च नोत्सृजेत्।
अवस्था व्यतिकीर्येरन्पौर्वापर्यविनाकृता:।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/5
26. (तेन कालेन प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां) जन्मन: प्रतिबन्धो लयो=विनाश:, अभ्यनुज्ञा=उत्पत्तावनुमति:, ताभ्याम्। *वाक्यपदीय*, 3/1/4 पर अम्बाकर्त्री व्याख्या, पृ. 497
27. स्थित: संसर्गिभिभावै: स्वक्रियास्वनुगृह्यते।
नैषां सत्तां अनुद्गृह्य वृत्तिर्जन्मवतां स्मृता।।— *वाक्यपदीय*, 3/1/23
28. प्रयोजकास्तु ये भावा: स्थितिभागस्य हेतव:।
तिरोभवन्ति ते सर्वे यत आत्मा प्रहीयते।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/25
29. जीर्यते भावेऽनयेति जरा नाम कालस्य शक्ति:। — *वाक्यपदीय*, 3/1/24 पर हेलाराज की वृत्ति।
30. जराख्या कालशक्तिर्या शक्त्यन्तरविरोधिनी।
सा शक्ति प्रतिबध्नाति जायन्ते च विरोधिन:।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/24

31. प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शाश्वती।
तया विभज्यमानोऽसौ भजते क्रमरूपताम्।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/30

32. क्रमाख्या शक्तिम्। यतस्तेऽवयवाः क्रमेणावभासमुपगच्छन्ति। तेषामवयवानां यः क्रमेणोदयप्रत्यस्तमयप्रत्यवभासः सैवास्य क्रिया। — *वाक्यपदीय*, 2/52 पर पद्धति टीका।

33. ततस्तु समवायाख्या शक्तिर्भेदस्य बाधिका।
एकत्वमिव ता व्यक्तीरापादयति कारणैः।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/27

34. एकोऽपि कालो नानात्वेन व्यवह्रियते। — *वाक्यपदीय*, 3/1/6 पर हेलाराज की वृत्ति।

35. औपाधिकोऽस्य भेदो मुख्यस्त्वभेदः। — *वाक्यपदीय*, 3/1/6 पर हेलाराज की वृत्ति।

36. (अ) नित्ये हि कालनक्षत्रे। — *महाभाष्य* 4/2/3
(ब) न नित्यः क्रममात्राभिः कालो भेदं इहार्हति।
व्यावर्तिनीनां मात्राणां अभावे कीदृशः क्रमः। — *वाक्यपदीय*, 2/24
(स) It is invisible and eternal. (*The Philosophy of Sanskrit Grammer*, P.C. Chakravarti), p. 54
(द) Time is immaterial and conceived as a symbol of eternity. (*The Philosophy of Sanskrit Grammer*, P.C. Chakravarti), p. 54

37. क्रियोपाधिश्च सन् भूतभविष्यवर्तमानताः।
एकादशभिराकारैर्विभक्ताः प्रतिपद्यते। — *वाक्यपदीय*, 3/1/37

38. भूतः पञ्चविधस्तत्र भविष्यश्च चतुर्विधः।
वर्तमानो द्विधाख्यात इत्येकादश कल्पना।। — *वाक्यपदीय, 3/1/37*

39. व्यतिक्रमेऽपि भावनां तस्य नास्ति व्यतिक्रमः।
न गन्तृगतिभेदेन मार्गभेदोऽस्ति कश्चन।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/74

40. क्रियाभेदाद् यथैकस्मिन् तक्षाद्याख्या प्रवर्तते।
क्रियाभेदात्तथैकस्मिन् ऋत्वाद्याख्योपजायते।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/32

41. तस्याभिन्नस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाश्रताः।
भेदा इव त्रयः सिद्धा यांल्लोको नातिवर्तते।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/47

42. बुद्ध्यवग्रहभेदाच्च व्यवहारात्मनिस्थितेः।
तावानेव क्षणः कालो युगमन्वन्तराणि वा।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/61

43. एकस्य शक्त्यः तिस्त्रः कालस्य समवस्थिताः।
यत्सम्बन्धेन भावानां दर्शनादर्शने सताम्।। — *वाक्यपदीय*, 3/1/41

44. अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति।। — *वाक्यपदीय*, 2/43 की स्वोपज्ञ वृत्ति में उद्धृत कारिका।

45. शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यत: शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम्।।
सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयो:।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्ध: स्यात्कृत: स्वयम्।। — *वाक्यपदीय,* 2/26 की स्वोपज्ञ वृत्ति में उद्धृत कारिका।

46. *वाक्यपदीय*, 2/2

47. *वाक्यपदीय*, 2/222

48. शब्दस्य च निरूपितार्थ ... प्रत्ययश्च विकल्प:। —— *वाक्यपदीय,* 3/3/54 की स्वोपज्ञ वृत्ति।

49. *वाक्यपदीय*, 3/3/57

शोधछात्रा (संस्कृत)
जगत्शिरोमणि टेम्पल रोड,
बंगाली पाड़ा, आमेर
जिला-जयपुर-302028
दूरभाष-8949546426

आश्वमेधिक पर्व में ब्रह्माजी का सांख्य शास्त्रीय उपदेश

समीर कुमार

महाभारत सदृश्य महाकाव्य किसी-न-किसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु ही रचा गया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। *आश्वमेधिक पर्व* के सम्बन्ध में अवश्य प्रश्न किया जा सकता है कि जब *महाभारत* युद्ध की घटना का पूर्ण वर्णन हो चुका तो वही *महाभारत* काव्य की 'इतिश्री' क्यों नहीं की गयी? अत: आश्वमेधिक पर्व की रचना का प्रयोजन *महाभारत* युद्ध की घटना के वर्णन के अतिरिक्त कुछ अन्य ही रहा होगा। *आश्वमेधिक पर्व* में ऋषियों द्वारा अनेक संशय तथा प्रश्न उपस्थित किये गये हैं तथा ब्रह्माजी द्वारा उन सभी प्रश्नों का अलग-अलग उत्तर न देकर ऐसा सारगर्भित सांख्यशास्त्रीय प्रवचन दिया है जिसमें सही जिज्ञासु के लिए सम्पूर्ण समाधान है। ब्रह्माजी ने अपने प्रवचन के आरम्भ में ही पूर्ण अहिंसा और प्रकृति-पुरुष का विवेक बताकर आत्मलीनता का महत्त्व बताया जो धर्म का सार तथा अध्यात्म का सार है। यह साधकों के लिए मननीय है।

ब्रह्माजी से ऋषियों ने पूछा—ब्रह्मन्! धर्म के विषय में विविध विचार है। धर्म के विविध मार्ग एक-दूसरे से चोट खाये हुए से दिखते हैं—

व्याहतामिव पश्यामो धर्मस्य विविधां गतिम्। (*अश्वमेधिकपर्व, 49.1*)

कोई कहता है कि देह छूट जाने के बाद धर्म का फल मिलेगा। अन्य कहते हैं कि कुछ नहीं मिलेगा। कितने लोग कहते हैं कि धर्म संशययुक्त है और कितने कहते हैं कि धर्म संशयरहित है। धर्म को कोई नित्य मानता है और कोई अनित्य मानता है। कोई कहता है कि एक ही धर्म के दो रूप हैं और कोई कहता है कि धर्म मिश्रित है। कितने कहते हैं कि एक ही ब्रह्म की सत्ता है और कितने कहते हैं कि जीव और ईश्वर अलग-अलग है। कितने लोग देश-काल की सत्ता मानते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि देश काल की सत्ता है ही नहीं। कोई जटा और मृगचर्म धारण करता है। कोई सिर मुड़ाता है और कोई निर्वस्त्र रहता है। कुछ लोग भोजन करते रहना अच्छा मानते हैं और कुछ लोग बराबर उपवास करना अच्छा मानते हैं। कुछ लोग जीवनपर्यन्त कर्म करते रहने की प्रशंसा करते हैं और कुछ लोग परम शान्त रहना ही श्रेष्ठ मानते हैं। कितने लोग मोक्ष की प्रशंसा करते हैं और कितने भोगों की बड़ाई करते हैं। कुछ लोग बहुत धन और ऐश्वर्य की प्रशंसा करते हैं और कितने लोग अकिञ्चनता को अच्छा मानते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उपासना करने से ईश्वर से मुलाकात होगी। दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं, मुलाकात किससे होगी? कुछ लोग छोटे-

छोटे जीव जन्तुओं को हिंसा से बचाते हैं और कितने लोग ईश्वर तथा देवता को खुश करने के लिए जानवरों की हत्या करते हैं। कुछ लोग पुण्यकर्म को करने में लगे रहते हैं, दूसरे लोग कहते हैं कि पुण्य-पाप कुछ है ही नहीं। कितने लोग सत्य स्वरूप के ज्ञान में दृढ़ है और कितने लोग सदैव संशय ही में पड़े रहते हैं। कितने साधक शरीर को अधिक कष्ट देकर साधना करते हैं और कितने साधक सुखपूर्वक आराम से ध्यान करते हैं। इस प्रकार धर्म के विषय में विभिन्न विचार ही नहीं है, अपितु परस्पर विरुद्ध विचार भी है। इसलिए हम लोग संशयग्रस्त हैं, हम किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाते हैं।

इदं श्रेय इदं श्रेय इत्येवं व्युत्थितो जनः।
यो हि यस्मिन् रतो धर्मे स त पूजयते सदा।। (*अश्वमेधिकपर्व, 49.14*)

"यही कल्याण-मार्ग है, यही कल्याण-मार्ग है, ऐसा सभी अपने-अपने मत को कहते हैं। ऐसा सुनकर मनुष्य-समाज दिग्भ्रमित है। जो जिस मत का अनुगामी है, वह उसीका सदैव गीत गाता है।" इसलिए हम लोगों की बुद्धि भ्रमित तथा चित्त चञ्चल हो गया है। ब्रह्मन्! हमें निश्चित मार्ग बताइये (अध्याय 49)

ब्रह्माजी ने कहा—महर्षियो! 'अहिंसा सर्वभूतानाम्' सभी प्राणियों के साथ अहिंसा का बरताव सर्वोच्च धर्म है। अहिंसा अद्वेग-रहित है, अतएव यह सर्वश्रेष्ठ धर्म को लक्षित करने वाला है।

ज्ञानं निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वकिल्बिषैः।। (*अश्वमेधिकपर्व, 50.3*)

"निश्चय निर्णय का साक्षात्कार करने वाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि ज्ञान ही परम कल्याण का साधन है। इसलिए आत्मज्ञान से ही मनुष्य सारे विकारों से छूटकर शुद्ध-मुक्त होता है।"

प्राणियों की हिंसा करने वाले भौतिक बुद्धि वाले मनुष्य नीची गति में जाते हैं। जो लोग रागात्मक कर्म करते हैं, वे आवागमन में घूमते रहते हैं। जो विवेकवान् अनासक्त होकर श्रद्धापूर्वक समत्वयोग में स्थिर होकर कर्म करते हैं, वे धीर पुरुष कल्याण प्राप्त करते हैं।

अब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक सुनो। जड़ प्रकृति क्षेत्र है और चेतन पुरुष क्षेत्रज्ञ है। चेतन पुरुष देहोपाधि में भोक्ता है और जड़ प्रकृति भोग्य है। जड़ प्रकृति चेतन पुरुष को नहीं जानती, किन्तु चेतन पुरुष जड़ प्रकृति को जानता है। मनीषी जन जड़ प्रकृति-क्षेत्र को द्वन्द्वात्मक कहते हैं और चेतन पुरुष निर्द्वन्द्व निष्कल, नित्य और गुणातीत है। क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वभाव से निर्लिप्त है। वह सदैव असंग है जिसे इस प्रकार अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है कि मैं असंग हूँ, वह देह में रहते हुए भी सब समय क्लेश-रहित रहता है।

सहस्रेणापि दुर्मेधा न बुद्धिमधिगच्छति।
चतुर्थेनाप्यथांशेन बुद्धिमान् सुखमेधते।। (*अश्वमेधिकपर्व, **50**.17*)

"मलिन बुद्धि वाले को हजार उपदेश करने पर भी ज्ञान नहीं होता और जो प्रज्ञावान् है, वह चौथाई उपदेश से ही ज्ञानवान् होकर सुख का अनुभव करता है।" अतएव उपाय करके आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। शुद्ध संस्कारी साधक शीघ्र आगे बढ़ जाता है। बिना रास्ता जाने तथा रास्ता का खर्च लिये बिना जैसे राहगीर दुःख पाता है, वैसे आत्मज्ञान ओर सद्गुण के बिना जीव दुःख पाता है। जैसे नाविक नाव चलाना जानता है और जीवन भर नाव चलाता है, परन्तु जीवनपर्यन्त अपने घाट के पास नदी में नाव लेकर चक्कर काटता रहता है, वैसे कितने ज्ञानी जीवन भर दूसरों को तारने के लिए उन्हें ज्ञान बाँटते रहते हैं, किन्तु वे सदैव दुःख में ही चककर काटते है, ज्ञान का फल शान्ति नहीं पाते।

जैसे नाव पर चढ़कर जमीन पर नहीं घूमा जा सकता ओर रथ पर चढ़कर जल में नहीं विचरा जा सकता, वैसे ही अलग-अलग किये गये शुभ और अशुभ कर्म अलग-अलग जगह पर ले जाने वाले हैं। जैसा कर्म किया गया है, वैसा फल भोगना पड़ता है।

प्रकृति अव्यक्त है। उसका कार्य व्यक्त जगत् है। यह जड़-जगत् है। चेतन आत्मा उससे अलग है। वे अपने स्वरूप को न समझकर जड़ प्रकृति में उलझे है। जो विवेकवान् जड़ प्रकृति से अपने को सर्वथा अलग समझता है और समस्त दृश्य वर्ग से अपने को विवेक से अलग कर अपने आप में लीन होता है, वह अमृत स्थिति पाता है। वह सर्वप्राणियों को आत्मभाव से समझता है, वह अविनाशी आत्मा में स्थित हो जाता है—गच्छति आत्मानम् अव्ययम्। (*अश्वमेधिकपर्व, 50.56*)

शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है और आत्मा रथी है। आत्मा इस शरीर रूपी रथ पर बैठकर संसार-पथ में निरन्तर दौड़ लगा रहा है। यह शरीर-रथ वस्तुतः ब्रह्म-रथ है, श्रेष्ठ रथ है। जो मनुष्य इस रथ को ठीक से जान जाता है कि यह कल्याण तक पहुँचाने वाला है, वह कभी मोह एवं भ्रम में नहीं पड़ता। वह धीरवान् हो जाता है।

विश्वसृग्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतास्तु सर्वशः।
भूतेभ्यश्चापि पञ्चेभ्यो मुक्तो गच्छेत् परां गतिम्।। (*अश्वमेधिकपर्व, **51**.13*)

"महाभूत अर्थात् पृथ्वी आदि जड़ तत्त्वों से विश्व तथा उसके विविध कार्यों की रचना होती है। पाँचों भूतों एवं जड़ तत्त्वों के कार्य—पदार्थों के मोह से जो चेतन पुरुष छूट जाता है, वह परम स्थिति को प्राप्त हो जाता है।" जो ध्यानपरायण है, सदैव प्रसन्नचित्त रहते हैं, वे श्रेष्ठ आत्मवेत्ता पुरुष सुख की राशि आत्मा में स्थित हो जाते हैं। प्राणी-पदार्थों में ममता करना अपने को दुःख में डाल देना है और ममता का त्यागकर देने पर मोक्ष सुगम है।

विवेकवान् मोह त्यागकर कर्म करता है और अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित होता है। चेतन पुरुष ज्ञानमय है, कर्ममय नहीं है। अतएव जो चेतन आत्मा को अमृतस्वरूप, नित्य, इन्द्रियों से परे, सनातन, अक्षय एवं असंग

समझता है, वह मृत्यु से पार हो जाता है। आत्मा अनादि, अजन्मा, नित्य, अचल तथा अमृत है। जो साधक इन गुणों का चिन्तन, अनुसन्धान एवं आचरण करता है, वह अमृत स्वरूप हो जाता है। आत्मसंयमी साधक कल्याणमय ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर लेता है।

अत्यन्त पवित्र मन वाले को निर्मल तथा स्थिर प्रसन्नता प्राप्त होती है। जैसे स्वप्न से जगे हुए मनुष्य के लिए स्वप्न निरर्थक हो जाता है, वैसे मोह-नींद से जगे हुए शुद्ध चित्त मनुष्य के लिए सारे दु:खों का अन्त हो जाता है। ज्ञाननिष्ठ जीवन्मुक्त सन्तों की सही दिव्य स्थिति है। वे संसार की प्रवृत्तियों को शुभाशुभ फल देने वाली समझते है। स्वरूपस्थिति ही विरक्त महात्माओं की गति है, यही सनातन धर्म है, यही ज्ञानियों की उपलब्धि है और यही निर्दोष सदाचार है। इस उच्चस्थिति को वही प्राप्त करता है जो सब प्राणियों में समता रखता है, लोभ और कामना से रहित है और उद्वेगशून्य है।

ब्रह्माजी ने कहा—जो मैंने बताया, यही सबका समाधान है। इसके अनुसार आचरण करो, फिर परमगति है।

इस प्रकार सांख्यशास्त्रीय उपदेश से मुक्ति का मार्ग सुस्पष्ट होता है। जीवन में दु:ख अज्ञान के कारण होते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष के भेद को जानकर मनुष्य कैवल्य की प्राप्ति करता है। उसे दु:ख दु:खी नहीं कर सकते हैं क्योंकि पुरुष स्वभाव से नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त है। अत: ममत्व एवं आसक्ति को छोड़ने से उसे अमृतमयी मुक्ति का मार्ग सुलभ हो जाता है।

शोधछात्र, दर्शनशास्त्र विभाग,
1208 बरकत नगर, टौंकफाटक,
जयपुर-302015
दूरभाष-9782432200

श्रीकरपात्रस्वामिमते श्रीमद्भगवद्गीतायाम् अद्वैततत्त्वविमर्शः

प्रो. उमारानी त्रिपाठी

'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' इत्येवं भूयसी महिमा स्मर्यते श्रीमद्भगवद्गीतायाः। निश्चप्रचं 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इत्यारभ्य 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः' इत्येतदन्तश्लोकजातं साक्षाद्भगवदुक्तिप्रतिपादकं श्रीमद्भगद्गीताशास्त्रं विरचितवान् भगवान्बादरायणो वेदव्यासमहर्षिरिति। प्राचीनवाङ्मये स्मृतिप्रस्थानत्वेन लब्धप्रतिष्ठमिदं शास्त्रं मानवजीवनस्य परमलक्ष्यभूतं श्रेयः पथप्रदर्शकं तात्त्विकं ज्ञानरहस्यं बिभर्ति। तस्मादेव अस्य भूयांसि व्याख्यानानि सन्ति विविधमतानुयायिभिराचार्यैः कृतानि स्वपक्षोपस्थापकानि परपक्षप्रतिक्षेपकाणि च। शोधपत्रमिदं श्रीकरपात्रस्वामिमते श्रीमद्भगवद्गीतायामद्वैततत्त्वविमर्श इतिविषयमधिकृत्य प्रस्तूयते।

संसारेऽस्मिन् सर्वे जनाः देहादेरसतः सद्रूपस्यात्मनश्च परस्पराध्यासेन स्वदेहादिषु, स्वकीयदेहादिभ्यः पृथग्भूतेषु कलत्रपुत्रपश्वादिषु च अहंममाभिमानेन तदीयानि स्थूलत्वकृशत्वसुख-दुःखानि स्वात्मनि अध्यस्य स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, अहं सुखी, अहं दुःखी इति बहुधा क्लिश्यन्तः महत्यस्मिन् भवसागरे जननमरणाद्यावर्तेषु निमज्योन्मज्य च विषयग्राहग्रस्ता अनर्थपरम्परां प्राप्नुवन्तीति सर्वैरनुभूयते। एतत्तु भाष्यकारैरध्यासभाष्ये तद्यथा पुत्र-भार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलस्सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति 'इत्याद्यारभ्य' एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः इत्यन्तेन प्रख्यापितम्।

एवमेवानर्थपरम्परावारणायैव वेदान्तेषु याज्ञवल्क्यमैत्रेयीनारदसनत्कुमारादिसंवादमुखेन आत्मतत्त्वं अनात्मभूतेभ्यो देहादिभ्यः पृथक्कृत्य 'आत्मा वाऽऽरे द्रष्टव्यः' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिना बहुधा निरूपितं वर्तते। एवमर्जुनोऽपि सदसतोरात्मानात्मनोरन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य स्वदेहगुरुपितृभ्रातृ-पुत्रादिष्वहं ममाभिमानेन मोमुह्यमानः संगरे कथं तानहं हनिष्यामि, हत्वा च कथमहं जीविष्यामीत्येवं हननक्रियाकर्तृत्वकर्मत्वबुद्ध्या शोकसागरनिमग्नोऽभूत्। तमेवं शोकसिन्धुनिमग्नमर्जुनमुद्दिधीर्षुरात्मज्ञानादन्य-त्रोद्धरणमपश्यन्भगवान् श्रीकृष्णः असतो देहादेरात्मतत्त्वं पृथक्कृत्य 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' इत्यादिनाऽऽत्मतत्त्वमुपदिदेश अर्जुनाय। अत एव आत्मतत्त्वनिरूपणप्रक्रमेणैव गीताशास्त्रं प्रवृत्तम्। तदुक्तम्—

सर्वोपनिषदो गावः दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

तस्मादेव धर्मसम्राड्-अनन्तश्रीविभूषितश्रीकरपात्रस्वामिना भगवद्गीताया अद्वैतभावे तात्पर्यं सुविचार्य उच्यते—"उपक्रमोपसंहारादिभि: षड्विधतात्पर्यलिङ्गैर्भगवद्गीताया: परमं तात्पर्यं सजातीयविजातीय-स्वगतभेदशून्ये प्रत्यक्चैतन्याभिन्ने परब्रह्मण्येव। अत एव गीताध्याने—'**अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीम्**' इत्यत्र 'अद्वैतामृतवर्षिणीम्' इत्युक्तम्। 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' इत्युपक्रमे शोकस्यानौचित्यमुक्त्वा उपसंहारे 'मा शुच:' इति शोकनिषेध उक्त:। मध्ये च 'तत्र का परिदेवना' 'नैव शोचितुमर्हसि' इति शोकनिवृत्ति रेवाभ्यस्ता। तत्रैवोपपत्तिभिश्च प्रदर्शिता। शोकनिवृत्तिस्तु एकत्वविज्ञानादेव मुख्या। 'तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:' इति श्रुते:।"

'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि' इति स्पष्टं ज्ञानादेव शोकनिवृत्तिर्गीतायामपि स्मर्यते। तत: शोकमोहोपलक्षितसंसारनिवृत्तिपरं गीताशास्त्रं ज्ञानशास्त्रमित्यपि व्यक्तमेव।

इति ते ज्ञानामाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। — *गीता*

इत्यत्रापि विमर्शनीयत्वेनोपस्थापितस्याशेषगीताशास्त्रस्य ज्ञानमिति ज्ञानशास्त्रत्वमेवोक्तम्। ज्ञायते पुरुषार्थ-सम्बन्धि अशेषं वस्तु अनेनेति ज्ञानम् अतो ज्ञानशास्त्रमेतत्। **'भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्'** इत्यत्रापि भूतानां तत्प्रकृतेश्च मोक्षं-बाधम् अधिष्ठानात्मके ब्रह्मणि ये विदुस्ते परं यान्ति इति प्रतिपाद्यस्य निष्प्रपञ्चत्वेनाद्वितीयत्वमुक्तम्।

पुनश्च, स्वामिकरपात्रमहोदयेन शरणागतभावमाश्रित्य अद्वैतानभिमतमपरपक्षमुत्थापयन् तत्रापि अद्वैततत्त्वे एव तात्पर्यं प्रतिपादितम्। उच्यते—'केचित्तु कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:' 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इत्युपक्रमं 'शरणं व्रज' इत्युपसंहारश्चोपेत्य शरणागतावेव तात्पर्यमुपगच्छन्ति। शरणागतौ तात्पर्यस्वीकारेऽपि त्वां प्रपन्नमित्यस्योपक्रमत्वं नाभ्युपगन्तुं युक्तम्, भगवदुपदेशभूतगीताया: 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यत एवोपक्रमदर्शनात्। अतएव 'धर्मक्षेत्रे' इत्यत: 'धृतराष्ट्र उवाच' इत्यतो वा उपक्रम इत्ययुक्तम्; सर्वस्यैव भगवदुपदेशभूमिकात्वेन तदनुपपत्तिदर्शनात्। उच्यते—'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इत्यत्र प्रज्ञावादस्य परिहासात् 'प्रज्ञामान्द्यादेव शोक:' प्रज्ञायां सत्यां कुत्रस्त्य: शोक: इत्युक्तम्। द्वैतप्रज्ञायां सत्यां अर्जुनस्य शोकदर्शनात् अद्वैतज्ञानवतो भगवत: शोकाभावदर्शनाच्च 'नानुशोचन्ति पण्डिता:' इति भगवता कण्ठोक्तेश्च अद्वैतदर्शनात् शोकोपलक्षितप्रपञ्चनिवृत्तिरूपक्रमे प्रोक्ता। उपसंहारे च—'मामेकं शरणं व्रज', 'मा शुच:' इति, अनेनाद्वैतब्रह्मशरणावगतौ शोकनिवृत्तिमुपदिश्य शरणागतेरेव शोकनिवृत्तिहेतुत्वमुक्तम्। अत्र 'व्रज' इति पदमवधेयम्। स्वामिकरपात्रमतेन 'न चात्र व्रजेति गमनमेव प्रोक्तं न ज्ञानमिति वाच्यम्। गत्यर्थकव्रजेर्ज्ञानार्थकत्वे बाधकाभावाभावात्। न च गमनार्थस्वीकारेऽपि बाधकाभावस्तुल्य इति वाच्यम् नभोवद्व्यापकस्य गन्तव्यासम्भवात्।' पुनश्चोच्यते—'ननु भेदमूलैव शरणागतिर्भेदज्ञानमपेक्षते इति कुतोऽद्वैतावगति: शरणपद' पदवाच्येति चेत्। तन्नोचितम् यतो हि तस्यैवाहं, ममैवासौ सोऽहमेवेति शरणागतित्रैविध्योपपत्त्या शङ्केयं निरस्ता।

सम्प्रति शरणमिति पदमपि विचार्यते। शरणं गृहरक्षित्रोरिति कोशबलादाश्रयो रक्षिता च शरणपदवचनार्हः। तथा चायमर्थस्सम्पद्यते। एकमद्वितीयं सर्वविधभेदवर्जितं मां अस्मत्प्रत्ययगोचरं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मानं शरणं गृहमाश्रयं रक्षितारं वा व्रज अवगच्छ जानीहि इति। यथा घटादीनां पृथ्वी यथा तरङ्गबुद्बुदादीनां वारि, घटाकाशादीनां महाकाशः आश्रयः तथैव भगवदंशस्य जीवस्य भगवानेवाश्रय इति भगवदाश्रयत्वनिश्चय एव शरणागतिः।

उपदानोपादेययोर्घटाकाशमहाकाशयोर्यथा वस्तुभेदो न विद्यते तथैव जीवात्मपरमात्मनोरपि भेदो नैव। अत एव 'क्षेत्रज्ञश्चापि मां विद्धि' इति क्षेत्रज्ञस्य परमात्मत्वं प्रतिपादितम्। ततश्च जीवात्मपरमात्माभेदावगतिरेव शरणागतिः। सा च द्वैतानर्थनिवर्तकत्वेन शोकनिवृत्तौ परमोपयोगिनी। अत एव शरणागत्या शोकनिवृत्ति-रूपसंहारे कथिता सर्वभवनिवर्तकत्वेन विदितप्रत्यक्चैतन्याभिन्नभगवत एव रक्षकत्वं स्पष्टम्। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि श्रुतिभिर्भिन्नदर्शिनां भयश्रवणात् अभेदभावेन दृष्टस्य भगवत एव रक्षकत्वमिति रक्षितृत्वेन गृहत्वेन वा भगवच्छरणागतिरभेदावगतिरेवास्ति।

'मामिति' पदस्य सगुण एव साकारश्श्रीकृष्ण एव अर्थ इति निर्णयः नैवोचितम्। यतो हि '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' इत्यत्राव्यक्तमूर्तिविशेषणात् ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इत्यव्यक्तोपासकप्राप्यत्वेन भगवतोऽव्यक्तत्वोपपत्तिः प्रसिद्धम्। न चाव्यक्तोपासकानां व्यक्तप्राप्तिर्युक्ता। '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' इति विरोधदर्शनात्। '**देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि**' इति विरोधाच्च। न चाव्यक्तोपासनं प्रकृतम्, '**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते**' इति प्रकृतत्वात्। तस्माद्यथायथं सगुणो निर्गुणश्च भगवान् मामहमित्यादिपदानामर्थः।

अद्वैतेऽभ्यासोऽपूर्वताफलमुपपत्तिश्च दृश्यते *गीतायाम्।* देहाद्युपाधिमनुसृत्य '**न त्वेवाहं जात, नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः**' इत्यादिना द्वैतोक्तिरनुवाद एव '**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि**', 'अचलः स्थाणुः' इत्यादिना च तत्त्वैकत्वमेव तत्र तत्र प्रतिपादितम्। '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' इत्यनेन सतः परमात्मानः असत्त्वं असतोऽनात्मनः सत्त्वं च प्रतिषिद्धम्। अनात्मनोऽसत्त्वे परमात्मन एव सत्त्वे च निश्चितेऽद्वैतमेव तत्त्वमिति निश्चीयते।

अत्र सदसद्पदाभ्यामात्मानात्मनोरेव ग्रहणे मानाभाव इति न वक्तव्यम्। परस्ताद् विवरणदर्शनात्। तथाहि—किं तदसत् यस्य सत्त्वं प्रतिषिध्यते इत्याकाङ्क्षायामुक्तम् '**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः**' इति। अत्र देहपदेन समष्टिव्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणात्मकास्सर्वे देहा विवक्षिताः।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।

'एतत् क्षेत्रं समासेन' इति सर्वस्य जगतो देहापरनाम्नि क्षेत्रे अन्तर्गतत्वप्रतिपादनात्। तथा च सर्वे देहा: अन्तवन्त इति प्रतिपादनेनानात्मनोऽसत्त्वं सुस्पष्टमेव। अथ च किं तत्सत् यस्य कदाप्यसत्त्वं न भवतीति प्रतिपित्सायामुच्यते—**'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्'** इत्यत्राभिन्ननिमित्तोपादानेन येन सर्वं ततम् तस्याविनाशित्वोपपत्त्या तस्यैव सर्वाधिष्ठानत्वेन सर्वव्यापकत्वमुक्तम्। **'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'** इति स्पष्टं भगवता स्वस्यैव सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वमुक्तम्। यथा रज्ज्वां सर्पधारामालादय: कल्पिता: सन्ति तथैव परमात्मनि सर्वाणि भूतानि तेषु च परमात्मोपलभ्यते। प्रकारान्तरेण च यथा रज्ज्वां सर्पादयोऽध्यस्ता न सर्पादिषु रज्जुस्सम्भवति तथैव परमात्मनि सर्वाणि भूतानि सन्ति परमात्मा च तेषु न सम्भाव्यते। 'असङ्गो ह्ययं पूरुष:' इति श्रुत्या सर्वभृत्त्वेऽपि वस्तुत: सर्वविवर्जितत्वमेव सिद्धम्। **'अविभक्तश्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'** इत्येतेनापि सर्वभूतस्थस्यात्मन: सर्वत्राविभक्तत्वमेवोक्तम्। **सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते** इति सर्वभूताधिष्ठानैकत्वज्ञास्यैव सात्त्विकत्वमुक्तम्। भिन्नदर्शिज्ञानस्य च—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।। इति राजसत्वमेवोक्तम्।

किञ्च, **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:'** इत्यनेन भगवता वेदादिसकलशास्त्रतात्पर्यं स्वस्मिन्नेव प्रतिपादितम्। एव कारेण स्वातिरिक्तस्य वेदतात्पर्यविषयत्वञ्च प्रत्यपादि।

न च तत्र तत्र वेदेषु 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिना भगवदतिरिक्तस्य स्पष्टं प्रतिपादनमस्ति। गीतायामपि—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत:।

इत्यादिना विभिन्नवस्तु प्रतिपादितमस्ति वाच्यम् तु तात्पर्यानवबोधात्। 'अहमेव वेद्य:' इत्यत्र भगवता स्वस्यैव महातात्पर्यविषयत्वमुक्तम् तदतिरिक्तस्य तत्प्रतिपत्त्यङ्गत्वेन अवान्तरतात्पर्यविषयत्वमेव 'त्रैगुण्यविषया वेदा:' इत्यस्याप्यमेवार्थ:। येषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नास्ति तेषां त्रैगुण्यविषयत्वमाभाति।

वेदानां कर्मकाण्डस्यापि महातात्पर्यं ब्रह्मण्येव। अन्यथा **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**, **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:'** इत्यादिभि: विरोधापत्ते: द्वाविमावित्यादिनापि न भेदप्रतिपादनम्, अपि तु मायातत्कार्यात्प्रपञ्चादधिष्ठानस्य निस्सङ्गत्वप्रतिपादनमेव। क्षर: कार्यं अक्षरस्तत्कारणम् माया ताभ्यामन्यस्तदधिष्ठानभूत: परमात्मा, यथा स्वाज्ञानतत्कार्याभ्यामन्यद्रज्जुतत्त्वमिति तद्वत्। न चात्र क्षेत्रज्ञपरमात्मनोरेव द्वाविमावित्यादिना ग्रहणमिति वाच्यम्। तथात्वेऽन्यतरस्य क्षरत्वेन विनाशित्वाभ्युपगमापातात्। 'क्षर: सर्वाणि भूतानि' इति तद्विवरणे भवनशीलानां कार्यभूतानामेवावगमात्। क्षेत्रज्ञपरमात्मनोर्भेद: न सम्भवति 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति तदभेदप्रतिपादनात्। क्षेत्रविवरणे सर्वदृश्यस्य क्षेत्रान्तर्गतत्वभिहितम्। तद्भासकस्य चिदात्मनश्च एकत्वमेव,

तन्नानात्वे मानाभावात्। अत एव क्षेत्रविवरणानन्तरमेव क्षेत्रज्ञाभिन्नस्य परमात्मन: 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इत्यादिना निर्विशेषत्वमेवोक्तम्। पुनश्च, *गीतायामेव* न सत्तन्नासदुच्यते इति कार्यकारणवैलक्षण्यं प्रतिपादिमस्ति। 'सर्वत: पाणिपादं तत्' इत्यादिना सविशेषप्रतिपादनमप्यस्तीति न वाच्यम् यतोहि सर्वशून्यत्व-भ्रमनिरास एव तत्तात्पर्यात्।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर:।
परमात्मेति चाप्युक्त: देहेऽस्मिन्पुरुष: पर:।।

इत्यत्र एकस्यैवोपाधितो भोक्तृत्वादिकं परमार्थश्च परमात्मत्वमुक्तम्।

'मायामेतां तरन्ति ते' इत्यादिना प्रपञ्चमूलमायातरणेन तद्बाधाधिष्ठानभूत: परमात्मैवावशिष्यते। अत्र तरणशब्देन न तु अतिक्रमणं विवक्षितं न च बाधो नाशो वा तरणशब्दार्थ इति वाच्यम् प्रत्युत 'तरति शोकमात्मवित्' इतिवत् मायानिवृत्ति: विवक्षितम्।

आत्मज्ञानादन्यत्र विश्रान्तिमपश्यन्नात्मविद्यामुपदिशन् भगवता 'अशोच्यानन्वशोचस्त्व'मित्यारभ्य 'नानुशोचितुमर्हसि' इत्यन्तेन देहातिरिक्तत्वनित्यत्वाकर्तृत्वाविकार्यत्वैकत्व सर्वगतत्वादिकमात्मन: प्रतिपाद्यते। पुनश्च, 'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्' इत्यारभ्य 'उभौ तौ न विजानीते नायं हन्ति' इति,

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुष: पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।

इत्यनेन हन्तृत्वघातयितृत्वाक्षेपेण सर्वविधकर्तृत्वमेवाक्षिप्तं वेदितव्यम्, न्यायस्य समानत्वात्। अत्र अविनाशित्वाव्ययत्वाद्युक्त्या कण्ठतश्चाच्छेद्यादाह्याक्लेद्यत्वोक्त्या निर्विकारत्वमुक्तम्। पश्चाच्च परिशुद्धस्य तस्यैव '**देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत**' इति वाक्येन सर्वदेहेष्वेकत्वमेव देहिनो निगद्यते। पुनश्च, आश्चर्यवदित्यनेन एतादृशस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्याद्वितीयचिदात्मनोऽपूर्वत्वं चोक्तम्।

एतदनन्तरं अभेदप्रसङ्गे—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते।।

इत्यनेन प्रकृतिगुणानामेव कर्तृत्वं स्वात्मन्यारोपणं तु मूढतैवेत्युक्तम्। पारिशेष्यादविवेकप्रयुक्तमेव कर्तृत्वमात्मन:। यथा जीवात्मनोऽविद्यावशाज्जन्म तथैव परमात्मनश्च धर्मग्लान्यधर्माभ्युत्थाननिवृत्तये धर्मसंस्थापनाय च लीलया जन्म भवतीत्युक्तम्। '**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्**' इति चातुर्वर्ण्य-कर्तुरपि भगवतो वास्तवमकर्तृत्वमेवोक्तम्। तथा चौपाधिकमेव कर्तृत्वं भगवतो जीवात्मनश्च, न वास्तवम्। गीतायामुक्तमिदम्—

कर्मण्यकर्म य पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् .....।।

अत्र सर्वेषामेव कर्मणां अकर्माधिकरणत्वोक्त्या कर्मनिष्ठा कर्मत्वोक्त्या च स्फटिके लौहित्यारोपवन्निर्व्यापार-प्रत्यक्चिदात्मनि व्यापारवत्सङ्घातसान्निध्येन व्यापारारोप उक्तः। निर्व्यापारत्वं जपाकुसुमसन्निधानेन लौहित्यभानकालेऽपि स्फटिकस्य वास्तवं स्वच्छत्वं यथा जायते तथैवात्रापि बोध्यम्। वास्तवाकर्तृत्वविज्ञानादेव सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीयस्वरूपब्रह्मावाप्त्या वापीकूपतटाकादिस्थानीय कृत्स्नकर्म-फलस्य तत्रैवान्तर्भावात् कृत्स्न कर्मकृत्त्वं नित्यतृप्तत्वं कर्मणि प्रवृत्तस्यापि सर्वथाऽकर्तृत्वं च सम्पद्यते। एतत्सर्वं 'कृत्स्न कर्मवित्' 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्', 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः' इत्यादौ प्रदर्शितम्। पुनश्च,

ब्रह्मार्पणं हविर्ब्रह्म ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

इत्यनेन यज्ञ प्रसङ्गेनापि सर्वसम्भारेषु ब्रह्मत्वोक्त्या ब्रह्मविवर्तत्वमुक्तम्। '**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते**' इति ज्ञान एव सर्वकर्मणां पर्यवसानोक्त्या ज्ञानफलमेव परः पुमर्थः इत्युक्तम्। तदनन्तरं भगवता तत्त्वोपदेशकाले सर्वभूतानामात्मनि भगवति च दर्शनं प्रोक्तम्। यदि भगवानात्मनो भिन्नः स्यात्तदा सर्वभूतानामुभयत्र स्थितिः कथमुपपद्येत। तथा च, द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' इत्यत्र सामानाधिकरण्येन भगवदभिन्ने चिदात्मन्येव सर्वभूतदर्शनमुक्तम्। असङ्गे चिदात्मनि सम्बन्धान्तरेण सर्वभूतावस्थित्यनुपपत्त्या आध्यात्मिकसम्बन्धे नैव तद्वक्तव्यम्। तथा च सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वेन बाधावधेरधिष्ठानभूतस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्य भगवतोऽद्वितीयत्वमर्थाद् भवति। प्रपञ्चस्य कर्मणां तत्फलानां च मिथ्यात्वावगमेनैव सर्ववृजिनसन्तरणमुपपद्यते। 'वृजिनं सन्तरिष्यसि' इत्यत्र सन्तरण शब्देन समूलनाश एवोक्तः। अवशिष्टस्य कर्मफलस्य कालान्तरे बन्धकत्वप्रसङ्गात्। '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**' इत्यत्र जानेन कर्मणां भस्मीभावप्रतिपादनात् पवित्रज्ञानेनैव संशयोच्छेदः प्रोक्तः।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।
नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्छ्वसन्।।

इत्यादिना विशुद्धात्मनः सर्वभूतात्मभूतत्वं कुर्वतोऽपि सर्वकर्मराहित्यमुक्तम्। पुनश्च,

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगः स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

इत्यनेन श्लोकेन कर्तृत्वकारयितृत्वनिषेधः स्वभावपदेन अनाद्यनिर्वचनीयेनाज्ञानेन ब्रह्मणो विश्वोत्पादनादित्वं विवक्षितम्। वस्तुतस्तु निर्विशेषत्वं निर्विकारत्वञ्च तत्रोक्तम्।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं प्रभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।

इत्यनेन स्फुटमद्वैतसङ्केतः कृतः। अत्र अज्ञानपदेन न ज्ञानाभावः किन्तु भावरूपमनिर्वचनीयमावारकं ज्ञाननिवर्त्यं तत्त्वान्तरमेव बोध्यम्। अन्यथाऽऽवारकत्वोक्तिर्न सङ्गच्छते। ज्ञानपदेन च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.उ.) इत्यत्रैव त्रिकालाबाध्यं स्वप्रकाशं ब्रह्मैव विवक्षितम्। तथा चाज्ञानेन ज्ञानं ब्रह्मावृतं तेनैव कर्तृत्वादिमोहप्रसक्तः।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।

इति ज्ञानेन अज्ञाननाशे ब्रह्मनिष्ठानां अपुनरावृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य प्राप्तिः प्रख्यापितम्। ज्ञाननिर्धूतकल्मषाणां तत्त्वज्ञानिनां विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिरेव भवतीत्युक्तम्। नानारूपात्मके जगति निर्दोषं समं ब्रह्मैवाधिष्ठानत्वेन परिलक्ष्यते। ततोऽपि जगतः मिथ्यात्वं अधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मण एव पारमार्थिकत्वमुक्तम्।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

इत्यनेन योगयुक्तस्य सर्वभूतस्थात्मदृष्टिः आत्मस्थसर्वभूतदृष्टिरपि प्रोक्तम्। '**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति**' इत्यनेन ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य कल्पितत्वेन स्थत्वम् तथा च ब्रह्मणः तदधिष्ठानरूपेण भूतस्थत्वमुदाहृतम्।

'**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः**' इत्यनेन सर्वभूतस्थस्य भगवतः एकत्वेनाश्रयणमुक्तम्। पुनश्च, '**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**', 'रसोऽहमप्सु' इत्यादिना च भगवत एव सर्वकारणत्वेन सर्वानुस्यूतत्वं निगदितम्।

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

इत्यत्र दुरत्यया मायया भगवत्तिरोधानेन संसृतिः, भगवदाश्रयेन च तत्तरणमुक्तम्। अत्र तरणपदेन नाशः प्रोक्तः न च तरणमतिक्रमणमात्रम्। अन्यत्रापि प्रकारान्तेरणाभिहितम्—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' इति मायया आवृतत्वमुक्तं गीताकारेण। अत्र अज्ञानं माया च नार्थान्तरम्। यथा—**'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः'** इति ज्ञानेन अज्ञाननाशः भवति तथैव भगवत्प्रपत्त्याऽपि मायातरणं भवत्यैव। तरणे नाशे च नार्थभेदः।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यस्स सर्वभूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।

इत्यत्र मायालक्षणादव्यक्तात् परस्य सनातनस्य विनश्यत्सु अविनाशित्वमुक्तम्।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।

इत्यनेन मृत्तिकामयं घटशरावादिकं यथा मृत्तिकया ततं विनिर्मितम् तथैवाऽऽकाशादिकं जगत्सर्वं अव्यक्तमूर्तिना मया ततमित्युक्तम्।

'भूतभृन्न च भूतस्थ' इत्यादिना भूतभृत्त्वमपि मायाद्वारा परमात्मन एवोक्तम्। मायाया भिन्नत्वविवक्षया भगवदध्यक्षतायामेव मायया चराचरं जगत् सूयते इत्यभिप्रायः।

'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' इत्यनेन सर्वकारणत्वमुक्तम्। अहमात्मा गुडाकेश इत्यारभ्य तेषु तेषु भूतेषु स्वविभूतिमुक्त्वा **'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'** इति सर्वस्यैव जगतः स्वात्मैकदेशमात्रत्वमुक्तम्। उल्लेख्यमिदं यदत्रापि सर्वकारणत्वेन भगवत्स्वरूपमेव प्रचक्षितम्। पुनश्च,

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।

इत्यत्र भूतानां विनाशित्वोक्त्या तत्स्थस्य समस्यात्मनः अविनाशित्वोक्त्या च स्पष्टमद्वैतमुच्यते।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्।।

इत्यत्र समब्रह्मदर्शनादेव आत्महंत्वनिवृत्तिमुक्त्वा समब्रह्मदर्शिनः प्रशंसाऽपि कृता दृश्यते।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।

इत्यनेन आत्मनोऽकर्तृत्वमद्वैतमनुरुध्यैव प्रतिपादितम्।

पुनश्च, **अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।**
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते।।

इत्यनेन श्लोकेन शरीरस्थस्यापि चिदात्मनो निर्गुणत्वादव्ययत्वान्निर्लेपत्वेन अकर्तृत्वमुक्तम्। अत्रोल्लेख्यमिदं यदन्यवादिनाम्मते आत्मनोऽकर्तृत्वं नैव इष्टम्। सांख्यदृष्ट्या तदुपपत्तावपि एकस्थत्वं न सङ्गच्छते।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते।।

इति प्रपञ्चानुपलेपमुक्त्वा—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नः लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।

इत्यनेनापि एकत्वं सूचितः। *गीतायाः* चतुर्दशाध्याये ब्रह्मचैतन्यप्रतिबिम्बसमन्वितप्रकृतेः सृष्टिरुक्ता वर्तते। गुणेभ्यः परं अकर्तारं विज्ञातुः गुणातीतत्वमुच्यते। ब्रह्ममूलेन संसारतरोः महत्त्वमुक्त्वा ब्रह्मज्ञानेन तच्छेदनमीहितं वर्तते।

'न तद्भासयते' इत्यग्राह्यत्वेन प्रत्यगात्मत्वमप्युक्तं परमतत्त्वस्य जीवस्य च, भगवतः सनातनांशत्वोक्त्या घटाकाशमहाकाशन्यायेन परापरात्मनोरैक्यं विवक्षितम्। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यनेन वेदानां महातात्पर्यं भगवत्येव प्रतिपादितं दृश्यते।

उपसंहारे च 'मामेकं शरणं व्रज' इत्यनेन एकत्वावगतिरेवोपदिष्टा। इत्थं आत्मोपदेशं लब्ध्वा अर्जुनोऽपि—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

एवं विधेन गतसन्देहः सम्पन्नः। अन्यत्रापि ब्रह्मविज्ञानादेव संशयनिवृत्तिः श्रूयते उपनिषत्सु—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्प कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अत्रेदमवगन्तव्यम् यद् जीवेश्वरौ भिन्नौ, आत्मनिष्ठं कर्तृत्वं वास्तवं, शरीरत्रयसंयुक्तो जीवः संसारी, जगत्कारणरूपस्य विकारित्वम्, कारणाद् भिन्नजगतः सत्यत्वमिति पञ्चविधो भ्रम एव संसारः तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति प्रोक्तः शास्त्रेषु। तत्र गीतायां भेदमनूद्य 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः', 'अविनाशि तु तद्विद्धि', 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादिना जीवेशभेदभ्रमो निवारितः। **'नायं हन्ति न हन्यते', 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियाणि सर्वशः। यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति', 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते', न करोति न लिप्यते** इत्यादिना आत्मनि वास्तवकर्तृत्वभ्रमो निवारितः। 'अन्तवन्त इमे देहा', 'न च मत्स्थानि भूतानि' इत्यादिना

जगत्सत्यत्वभ्रमो प्रतिषिद्धः। 'न जायते म्रियते', 'परमात्माऽयमव्ययः इत्यादिना विकारित्वभ्रमोऽपि निवर्तितः।' यथा उपनिषत्सु ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादनप्रसङ्गे 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्येव निश्चयार्थे समायाति तथैव गीतायामपि द्वैतप्रतिपादनप्रसङ्गे 'द्वैतमिव' इतीवकारः समायाति। तेन द्वैतनिरासपूर्वकमद्वैतप्रतिपादनं निश्चीयते। यथा ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति उपनिषत्सु प्रोक्तं तथैव 'ये विदुर्यान्ति ते परम्' इति ज्ञानादेव परप्राप्तिरभिहिता गीतायाम्।

इत्थं, तत्त्ववृत्तान्तपर्यालोचनया गीताशास्त्रस्य परं तात्पर्यं अद्वैत तत्त्व एव इति सुनिश्चितमिति धर्मसम्राट्-श्रीकरपात्रस्वामिमहाभागस्य निर्णयः।

आचार्या, संस्कृतविभागे,
महात्मागान्धीकाशीविद्यापीठम्,
वाराणसी।
चलवाणी- 9839397093
स्थायी—538 क/461 शारदामन्दिर,
तुलसीपुरम्, त्रिवेणीनगर,
लखनऊ-226020

वैखानसागमे मन्त्रविमर्शः

प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेयः

भारतीयविचारधारायाः सशक्तं एवं सार्थकतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं वर्तते। प्रायः सर्वेषु धर्मेषु मन्त्रशक्त्याः महत्त्वं प्रतिपादितं वर्तते। ग्रीक, इटली, मिस्रादिदेशेषु मन्त्रविद्यायाः प्रमाणं प्राप्यते। 'नेशन्स ऑफ वर्ल्ड' इत्यस्मिन् अफ्रिकादेशस्य आदिमजातिष्वपि मन्त्रप्रयोगस्य विवरणं प्राप्यते। भारतीयजीवनपद्धतौ मन्त्रशक्त्याः साम्राज्यं सर्वत्र दृश्यते। निगमागमपरम्परासु मन्त्रमातृकानां प्रभावः सुस्पष्टो दृश्यते। तन्त्रविधाने तु मन्त्र एव मुख्यमन्त्री भवति। मन्त्रविषये *जयाख्यसंहितायां* कथितं वर्तते यत्— यस्य मननेन ध्यानेन जनेभ्यः शक्तिं सामर्थ्यं च प्रददाति स एव मन्त्रो भवति। प्रथमस्य नाम निष्कलोऽपरश्च सकलो वर्तते। निष्कलमन्त्रेण मोक्षो सकलेन च आनन्दो भवति। *अहिर्बुध्न्यसंहितायाः* समुद्घोषो वर्तते यत्— मन्त्रः शुद्धचैतन्यरूपविष्णोः शक्तिरस्ति। वैखानससम्प्रदायेन सह सम्बद्धवैष्णवानां कृते प्रचलित-क्रियाकलापानां निष्पादने शुद्धरूपेण वैदिकमन्त्राणां विधानं वर्तते। अतो वैखानसागमे पाञ्चरात्रागमवत् 'हुम् फट्' इत्यादयो मन्त्राः नोपलभ्यन्ते। अत्र पाञ्चरात्रागमवत् मातृकाचक्राय मन्त्रोद्धाराय वा किमपि विशेषविवरणं नास्ति। पुनरपि मन्त्रेण सह सम्बद्धविषये कश्चन विचारः समुपलभ्यते। *वैखानसगृह्यसूत्रे* साम्प्रदायिक-अष्टादशाक्षरीणां द्वादशाक्षरीणां मन्त्राणां च जपविधानं विहितं वर्तते। ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमो नारायणाय।[1]

संकर्षणसंहितायां परमज्ञानमन्त्रस्य लक्षणं प्रदर्शितं यत्—

मननात् त्रायते सद्य इति वै मन्त्रलक्षणम्।[2]

यस्य स्मरणादेव रक्षणं भवति, स एव मन्त्रो वर्तते। मन्त्रज्ञानं ज्ञानिनः परमज्ञानं विद्यते। सर्वाः क्रियाः सम्पूर्णं जगत् मन्त्रमूलका: सन्ति। भगवान् विष्णुः मन्त्रमयो वर्तते। त्रैलोक्ये मन्त्रं विना कापि क्रिया न भवति। सर्वकर्मप्रसाधकमन्त्र एव शब्दब्रह्मो विद्यते। वाक्तत्वं सर्वत्र व्याप्तं वर्तते। यावत् पर्यन्तं ब्रह्मतत्त्वं विद्यते, तावत् वाक्तत्त्वमपि विद्यते। पाञ्चरात्रिकसंकर्षणसंहितायां शब्दसृष्टिमूलरूपमन्त्र—शास्त्रस्य परब्रह्मात्मिकाशक्तिः नादात्मिकाशक्तिः परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीरूपेषु च निर्दिष्टास्ति। सर्वप्रथमं प्रणववर्णस्य प्रादुर्भावो भवति। अकाराद् स्वरोत्पत्तिः, उकारात् कादिमावसानां वर्णानां, मकराद् अन्येषां शेषवर्णानां च समुद्भावो भवति। मन्त्ररहस्यं गुह्यातिगुह्यविद्या वर्तते। पाञ्चरात्रसम्प्रदाये निर्दिष्टोऽयं वर्तते यत्—**'मन्त्रो नान्यस्य वक्तव्यः'**। प्रणव

एव ध्वनिर्वर्तते। सम्पूर्णे ब्रह्माण्डे यत् व्यक्ताव्यक्तस्पन्दनं वर्तते, सैव पञ्चभूतात्मिका सृष्टिर्विद्यते। प्रणवस्य त्रीणि अक्षराणि अकारो विष्णुवाचकः, उकारः अवधारणवाचकः, मकारो जीववाचकश्च वर्तते। *जयाख्यसंहितायामपि* प्रणवस्य समुल्लेखो वर्तते। मन्त्रनिर्माणं मातृकाभिर्भवति। मातृकारूपिणी 'वर्णरूपमेव मातृका' इति नाम्ना प्रसिद्धा वर्तते। *जयाख्यसंहितायां* कथितं वर्तते यत्—'मन्त्रात्मा भगवच्छक्तिः सूत्रमन्त्राक्षराणि वै।' अर्थात् मन्त्रात्मा भगवच्छक्ति-अक्षररूपे वर्तते। संहितायाम् अयमपि समुल्लेखो वर्तते यत्—भगवतो नैकेषां रूपाणां वर्णनं अकारादारभ्य क्षकारपर्यन्तं कर्तव्यम्। तन्त्रविदो वदन्ति यत्—देवनागरीलिपेः सर्वाक्षराणि मातृकारूपाणि सन्ति। पं.शिवशंकरोऽवस्थी वदति यत्—वर्णः पृथक्रूपे तथा वर्णमाला स्वसमुदितरूपे मन्त्रस्वरूपमेव वर्तते। निगमागमचिन्तनस्य धारा चमत्काराक्षरेषु आधारिता वर्तते। निगमसाहित्यानुसारम् आदौ अक्षरस्वरूपिणी वाग्देवी प्रादुर्भूता। इयं वेदमाता अमृतस्य नाभिर्वर्तते। **न विद्या मातृकापरा** यथा बुभुक्षितो बालकः मातरम् इच्छति, तथैव देवा मातृस्वरूपान् वर्णान् इच्छन्ति याः मातृकाः मन्त्राणां समुत्पत्तिस्थानं वर्तते। विद्यास्थानं वर्तते। *लक्ष्मीतन्त्रे* वर्णितमस्ति—

यथा हि क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवं सर्वे सुरा देवीं मातृकां पर्युपासते॥
इयं योनिर्हि मन्त्राणां विद्यानां जन्मभूरियम्।
तत्त्वानां तात्त्विकानां च ज्ञानानां प्रसवस्थली॥[3]

यथा पूर्वोक्तकथनानुसारं *वैखानसागमे* मातृकायाः विशेषविवरणं नोपलभ्यते। पुनरपि प्रतिमाप्रतिष्ठायाः अवसरे विग्रहे मातृकान्यासस्य विधानं प्राप्यते। अत्र स्पष्टरूपेण अकारादारभ्य क्षकारपर्यन्तं तथा शिरोभागादारभ्य पादपर्यन्तं मातृकान्यासस्य विधानं वर्तते।[4]

महर्षिमरीचिना कथितं यत्—'**अथातो मन्त्राणां कल्पं व्याख्यास्यामः**' अनेन प्रतिज्ञावाक्येन सह मन्त्रविषये गम्भीरतया चिन्तनं कृतम्। महर्षिर्मनुते यत्—'**ओमिति ब्रह्म**' श्रुतेः आधारितमन्त्राणां प्राणाः 'प्रणवः' ब्रह्मस्वरूपमस्ति। प्रणवे अकारः, उकारः, मकारस्त्रीणि अक्षराणि स्वीकृतानि। त्रीणि क्रमशः ऋग्-यजुः-साममयानि सन्ति। सत्त्वरजतमोयुक्तानि च सन्ति। एते वर्णाः क्रमशः श्वेतः, पीतं, कृष्णश्च सन्ति। त्रीणि प्रणवस्यांशा: अकारो वलयाकारः, उकारः कुटिलाकारः, मकारो बिन्दुनादश्च सन्ति। एतेषां त्रयाणां संयोगेनैव 'ॐ' इत्यस्य निर्माणं भवति।[5] प्रणवस्य प्रजापति-ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, ब्रह्मा अधिदेवता च सन्ति।[6] यस्य गोत्रम् अथर्वन्नस्ति।[7] प्रणवस्य वर्णः पीतं भवति। एषः सहस्रशीर्षः, सहस्रबाहुः, सहस्राक्षः, सहस्रोदरः, सहस्रपादः, ऊर्ध्वकेशः, रक्तास्यपाणिपादः, शुकपिच्छाम्बरधरश्चास्ति। विष्णुः जीवात्मा, ब्रह्मा बुद्धिः, ईशः कोपः, चित्तं सोमः, अतलादिसप्तपादाः, भुजङ्गाः अङ्गुल्यः, नद्यः अप्सरसः, भूरादयः सप्तलोका कुक्षयः सन्ति। वसुः नाभिः, महाण्डः बहिरण्डः, वैष्णवाण्डः शिरः, अग्निष्टोमादियज्ञः केशः, व्योम ललाटम्, भ्रुवौ मेधा, चन्द्रार्कौ नेत्रे, शुक्र-बृहस्पती कर्णौ, अश्विनीकुमारद्वयं नासिका, वायुर्दन्ताः, सरस्वती जिह्वा, नित्याग्निहोत्रद्वयं

ओष्ठौ, सर्वेऽग्रयः वदनम्, इत्यादयः व्याकरणनिरुक्तादिचतुःषष्टिकलाः व्याख्यानरूपे वर्णिताः सन्ति। सर्वेषां तन्त्राणां जपारम्भे प्रणवस्य बारमेकं बारत्रयं वा समुच्चारणं कर्तव्यम्। समाप्तावपि अयमेव विधानं वर्तते। प्रणवं विना सर्वे मन्त्राः जपाश्च विनष्टाः भवन्ति। प्रणवं विना अन्ये मन्त्राश्च न सन्ति।[8] कश्यपविरचिते *वैखानसागमे* ज्ञानकाण्डे प्रणववर्णनं कृतं वर्तते। अस्य मन्त्रस्य समुद्भवो विष्णोः मुखारविन्दात् जातः। अस्य स्वरूपं मध्यकालीनसूर्यवत् वर्तते। अलंकारेण विभूषितो वर्तते। अस्य हस्तयोः शङ्खः, कृपाणं, शक्तिः, धनुः, पाशः, हलं, मुसलश्च वर्तन्ते। *यजुर्वेदे* वर्णितस्य पुरुषस्य आकारेण सहित आगमिकस्वरूपस्यापि विधानं वर्तते। अस्मिन्नेवोपक्रमे नारायणेनापि प्रणवस्य स्वरूपम् अकारेण प्रतिपादितम्। उकारो लक्ष्मीस्वरूपं वर्तते तथा मकारो जीवात्माबोधको विद्यते। पश्यकेन कश्यपः भवति तथैव प्रवणेन प्रणवशब्दस्य निष्पत्तिर्भवति। नारायणे सर्वतोभावेन प्रवाहितत्वात् प्रणवो नारायण एव वर्तते।[9]

महर्षिणात्रिणापि एकाक्षरं ब्रह्मं स्वीकृतम्। विष्णुपदं ये जना प्राप्तुमिच्छन्ति, ते ॐरथारोहणं कृत्वा मनः सारथिनं विनिर्माय तत्पदं (ज्ञानं) प्राप्तुं शक्नुवन्ति। विष्णोः त्रिर्व्यूहो वर्तते। प्रणवस्तस्य वाचको विद्यते। इत्थं प्रणवः सर्वव्यापिनः परमात्मनः एव स्वरूपं वर्तते। अस्य उपासनेन मानवाः सर्वाः सिद्धिश्च प्राप्तुं शक्नुवन्ति। अष्टाक्षरमन्त्रस्य स्वरूपं **ॐ नमो नारायणाय** वर्तते। अस्मिन् मन्त्रे ॐ आदिबीजं वर्तते। नकारः कपिलः अधिदैवतरूपे वर्तते। इदं ज्ञानप्रदानकर्तृ पाशच्छेदनकर्तृ च वर्तते। अस्य स्वरूपं त्रीणि शिरांसि, षट् हस्ताः, रक्तो वर्णः, लम्बायमानं कूर्चं, ह्रस्वो नादश्च वर्तते। ब्रह्मा मकारस्य देवता वर्तते। अस्य स्वरूपं श्वेतवर्णः, करद्वयं, जटाधारी, रक्तकमले विराजितस्वरूपं वर्तते। नकारस्य अधिदेवता प्रजापतिर्वर्तते। अस्य वर्णः धूमवत् वर्तते। चत्वारो हस्ताः, चतुर्मुखः कमलासने विराजितः स्फटिकमालाधारणकर्तृ वर्तते। अस्य नादः प्रांशुर्वर्तते। रेफस्याधिदैवतरूपम् अग्निर्वर्तते। अस्याकारो वह्निशिखावत् वर्तते। श्यामवस्त्रे पुरुषवस्त्रधारी, भुजाद्वयं सुसम्पन्नः श्रीस्वरूपयुक्तः, अनुदात्तनादसम्पन्नो वर्तते। अयं रत्नत्रयं युक्तो, दिव्यैश्वर्यप्रदानकर्तृ दरिद्ररूपी-अन्धकारविनाशकर्तृ च वर्तते। इदमेव शक्तिस्वरूपं वर्तते। णकारस्याधिदैविकरूपम् आत्मा वर्तते।[10] अयं क्षेत्रज्ञेण समुत्पन्नो भवति। गोदुग्धवत् अस्य स्वरूपं वर्तते। अस्याष्टाक्षरमन्त्रस्याधिदेवता नारायणो वर्तते। गायत्रीच्छन्दोऽस्य ऋषिः सांकृत्यायनो वर्तते। मन्त्र एव पञ्चाङ्गयुक्तो वर्तते। परमात्माऽयं सिद्धिप्रदातृ वर्तते। मनुष्येण श्रेयप्रदानकर्तृनाम्ना आहूयते। नागैः मंगल्यकरम् इति नाम्ना आहूयते। हृदि विष्णुमादाय सभक्तिपूर्वकं अस्य मन्त्रस्य जपं कर्तव्यम्।[11]

कस्मिन्नपि जपविधौ सम्प्रदायानुरूपन्यासस्य विधानं कार्य्यः। न्यासस्याभिप्रायो वर्तते यत् मन्त्रस्य प्रत्येकमक्षरं साधकस्य अङ्गप्रत्यङ्गेषु परिकल्प्य मन्त्रस्वरूपस्य मानसिकी परिकल्पना कर्तव्या। प्रणवः सर्वप्रथमं मूर्ध्नि न्यासं विधाय क्रमशः ललाट-नेत्र-नासिका-जिह्वा-हृदय-नाभि-गुह्य-चरणादिस्थानेषु न्यासं क्रियते। न्यासोऽयं सृष्टिन्यासोऽभिकथ्यते। यदि प्रणवन्यासो विपरीतक्रमेण मूर्धानं यावत् अष्टाक्षरन्यासं क्रियते चेत् संहृतिन्यासं भवति। आदौ जठरे, द्वितीये पादद्वयोः, तृतीये करद्वये च प्रणवस्य विन्यासस्थानमभिकथ्यते। अनेन

प्रणवेन सूक्ष्मरूपे प्रादुर्भूते सृष्टिक्रमे पुनः तत्रस्थितौ सृष्टिप्रक्रियायां सम्पादनेन साधकः जीवनवृत्तेन स्वकीयं मोचयति।[12]

मरीचि महर्षिणा वर्णितं यत् —त्रिकाल सन्ध्यायां गायत्र्याः त्रयाणां रूपाणां ध्यानस्य क्रमशः निर्दिश्यते। तदनन्तरं गायत्र्याः अक्षरन्यासविधिनां वर्णनं, ऋषिछन्दोदेवतादिनां वर्णनपूर्वकं प्रयोगफलश्च विस्तृततया विवेचितः।[13] एवमेव विहङ्गमदृष्ट्या *वैखानसागमे* मन्त्रविमर्शः वर्णितः।

सन्दर्भाः

1. *वैखानसस्मार्तसूत्रम्* - 1/3/4/12
2. क. *संकर्षणसंहिता*, मन्त्ररात्रम् - 1/6

   ख. मन्त्रात्मा भगवच्छक्तिः सूत्रमन्त्राक्षराणि वै - *जयाख्यसंहिता* - 14/41
3. *लक्ष्मीतन्त्रम्*, 20/51-52
4. *यज्ञाधिकारः* 29/29-40, *अर्चनाधिकारः* 22
5. *विमानार्चनकल्पः*, पटलः 83
6. *विमानार्चनकल्पः*, पटलः 82
7. *विमानार्चनकल्पः*, पटलः 83
8. *विमानार्चनकल्पः*, पटलः 83
9. *आगमकोशः* भागः - 3, *वैखानसागमः*, पृष्ठ 113, प्रकाशित, कल्पतरु रिसर्च अकादमी, बैंगलौर।
10. *ज्ञानकाण्डे*, अध्यायः 107
11. *ज्ञानकाण्डे*, अध्यायः 108
12. *ज्ञानकाण्डे*, अध्यायः 108
13. *विमानार्चनकल्पः*, पटलः, 84

अध्यक्षः,
धर्मागमविभागः,
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः
वाराणसी-221005

तन्त्रागमस्वरूपवर्णनम्

योगेशप्रसादपाण्डेयः

भारतीयदार्शनिकवाङ्मये तन्त्रागमस्यापि महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। यथास्तिकषड्दर्शनेषु तद्भिन्नेषु बौद्धजैनादिषु च दार्शनिकचिन्तनानां वैपुल्यमवलोक्यते, तथैवागमपरम्पराप्यन्तरङ्गसाधनैः सर्वसमन्वयवादि-चिन्तनैश्च स्वकीयमसाधारणं वैशिष्ट्यं प्रमाणयति। भारतीयवाङ्मये वेदानां विद्यतेऽनितरसाधारणं महत्त्वम्। वेदा भारतीयसाधनापद्धतौ बहिरङ्गसाधनरूपा आगमाश्चान्तरसाधनभूता इत्यागमिका मन्वते। भारतीयजना उभावेव निगमागमौ समाश्रयन्ति। वस्तुतो भारतीयदार्शनिकसांस्कृतिकतत्त्वजिज्ञासुभिरुभयोरेवैतयोर्निगमाग-मयोराश्रयो ग्रहणीयो भवति। तन् धातोः ष्ट्रनि प्रत्यये कृते तन्त्रशब्दो निष्पद्यते। तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रमिति व्युत्पत्त्या ज्ञानविस्तारकत्वं तन्त्रस्य सिध्यति। *कामिकागमे* तन्त्रशब्दस्येयं व्युत्पत्तिर्लभ्यते—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते पुंसां तेन तन्त्रमिति स्मृतः॥[1]

तन्त्रस्य वैशिष्ट्यं इत्थम्—

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते॥[2]

श्लोकेऽस्मिन् तन्त्रशब्दस्य व्यापकोऽर्थो गृहीतः। आचार्यशङ्करेणापि *ब्रह्मसूत्रभाष्ये* 'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता' इति वदता तन्त्रस्य व्यापकत्वमुररीकृतम्। किन्तु लोके तन्त्रशब्दस्य सीमितः संकुचितो वार्थो गृह्यते। तन्त्रस्यैवापरं नामधेयमस्त्यागमः। आगमशब्दं व्युत्पादयता श्रीमता वाचस्पतिमिश्रेण *योगभाष्यतत्त्व-वैशारदीव्याख्यायां* लिखितम् —'आगच्छन्ति बुद्धिपरमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः सः आगमः'[3] एतेनागमस्य लौकिकाभ्युदयपुरःसरं मोक्षसाधकत्वमस्तीति सिध्यति। वेदेषु कर्मोपासनाज्ञानस्वरूपाणां विवेचनमागमेषु च तत्साधनोपासनानां निरूपणं समासाद्यते। एतेनापि निगमागमयोः परस्परपूरकत्वं लोकोपकारित्वञ्च सिध्यति।

आधुनिकविज्ञानेन यद्यपि तन्त्रागमस्य साम्यं सेत्स्यति। यद्यप्याधुनिकविज्ञानस्याविष्काराः लोकोपकारकाः सन्ति, किन्तु सुयोग्यप्रशिक्षकं प्रयोगशालाञ्च विना न किमपि विज्ञानं जनिर्लभते। एवमेवागमशास्त्रमपि आध्यात्मिकतायाः व्यावहारिकविज्ञानमस्ति। योग्यगुरुमन्तरात्रापि नैवाधिगन्तुं शक्यते किमपि तत्त्वं साधकेन।

इत्थं सुचिरं भारतीया दर्शनविद्या श्रद्धाभाजैः साधकैः गुरूपदेशतो लभ्यते स्म, श्रद्धयाभ्यस्ता च शिष्येभ्यः सत्फलदा भवति स्म। निराबाधा परम्परैषा प्रचलिता सहस्राणि वर्षाणि यावत्। अस्याः साधकाः सफलतामवाप्य सिद्धा इत्युच्यन्ते स्म। इत्थं भारतीया दर्शनविद्या सिद्धविद्यैवाभूत् पुरा। साम्प्रतं व्यावहारिके जगति विज्ञानं चूडास्थानमालम्बते तथैवाध्यात्मिकक्षेत्रे तन्त्रागमस्य पताका दोधूयते। शास्त्रसिद्धान्तानां परीक्षणमागमविद्यासाहाय्येनैव कर्तुं शक्यते। अतो हेतोः साम्प्रतिके काले भौतिकदृष्ट्या लोकोपकारार्थं यथा विज्ञानमावश्यकं तथैवाध्यात्मिकक्षेत्रे तन्त्रागमस्य परमावश्यकता वरीवर्ति। अत्र महानिर्वाणतन्त्रोक्तं पद्यमिदं स्मरणीयम् —**'विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये।'** आगमशास्त्राणां पर्यालोचनेन तेषां भेदद्वयं समासाद्यते (1) वेदानुकूलत्वम् (2) वेदबाह्यत्वञ्च। बहुतराणामागमानां तन्त्राणाञ्चोत्सभूता वेदा एव। यद्यपि पाञ्चरात्रशैवागमादीनां कतिपये सिद्धान्ता वेदविपरीता वेदबाह्या वा सन्तीति विद्वांसः प्रतिपादयन्ति। शाक्ततन्त्रीयसप्तविधाचारेषु वामाचारं विहायान्ये सर्वेऽप्याचारा वेदमूलका एव वर्तन्ते।

इत्थं ह्ययमागमो नाम भारतीयदर्शने कुञ्जिकारूपः। तत्त्वज्ञा जानन्त्येव यदागमज्ञानं विना निगमज्ञानम-सम्भवम्। यतो ह्यागमशब्दस्य ज्ञानापरपर्यायात्तस्य वेदैकनिष्ठत्वमवतिष्ठते। वस्तुतः आगमनिगमौ परस्परं पूरकौ। एतावतौ वेदस्योपबृंहणाय प्रवृत्तौः शिवविष्णवादीनामाराध्यदेवानां पारम्यं प्रतिपादयन्ति चागमाः, तद्यथा—

आप्तप्रोक्ततया तन्त्रं प्रमाणमिति ये विदुः।
वेदप्रामाण्यमप्याहुराप्तमूलतयैव ते॥
तच्छैववैष्णवब्राह्मसौरकौमारभेदतः।
पञ्चधा भिद्यते तन्त्रं वक्तृणां च विशेषतः॥[4]

तन्त्राणामाधारः नास्ति कश्चिद् ग्रन्थविशेषः प्रायः शैवशाक्तागमास्तन्त्राणीत्युच्यन्ते। केचन तेऽप्यागमिकाः साधकाः ये शाक्ता इत्युच्यन्ते सन्ति तेऽपि पराद्वैतवादिन एव तेषां मध्ये ये प्राधान्यं भजन्ते। परिभाषाविशेषप्रयोगकृतमन्तरं केवलं तेषां प्रतिपादनप्रक्रियायाम्। विन्दुर्नादो, बिन्दुः कला, कलातीत इत्याद्याः ताश्च परिभाषाः। अपरं च शाक्ते मण्डल-मन्त्र-मुद्रायागादीनामेव प्राधान्यं प्रयोगविषये, परं च शैवे भक्तिसहायस्य त्रिकयोगाभ्यासस्य प्राधान्यम्। शैवे विशेषो महिमा ज्ञानपक्षस्य, शाक्ते क्रियापक्षस्य पुनः। शाक्ते पुनर्बुभुक्षाया अपि प्राधान्यं, शैवे मुमुक्षायाः प्राधान्यम्। शैवे मोक्षलाभं प्रति सावधानता, शाक्ते पुनर्व्यावहारिकसिद्धिजालमपि सा प्रति। तथापि परस्परं प्रायशः सिद्धान्ताः शैवशाक्तशास्त्रयोः समानतन्त्राः। ततो देवतानां वैविध्यात् साधनानां वैविध्यम्, अत एव साधननिरूपकाणामागमानां बहुविधा विस्तराः। सम्प्रदायसिद्धाः अनेके विद्वांसः एतदेवाधारिकृत्य इमं सर्वज्ञानप्राप्तौ साधनभूतं स्वीचक्रुः—

आन्तरं चित्स्वभावस्य शब्दनं यद्विमर्शनम्।
अन्तरङ्गस्वरूपं तत् प्रत्यक्षस्यापि जीवितम्॥

यद् यद् विमृश्यते तेन तत्तदेव भवेद् ध्रुवम्।
आगमः स विमर्शो हि प्रोच्यते मुख्यतो बुधैः॥
उपयोगितया तत्र उपचारेण कथ्यते।
शब्दोप्यागमशब्देन विमर्शजनकत्वतः॥[5]

आगमस्तु नामान्तरः शब्दनरूपो द्रढीयस्तमविमर्शात्मा, चित्स्वभास्येश्वरस्यान्तरङ्ग एव व्यापारः, प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पः। तेन यद् यथाऽऽमृष्टं तत्तथैव।[6]

पारमेश्वरः परामर्शं एव ह्यागम इति।[7]

तथा हि दृढविमर्शरूपं शब्दनमागमः। आ = समन्तादर्थं गमयतीति।[8]

निष्कर्षतया तन्त्रागमशास्त्रं वेदमूलमपि वेदाधिकतया निर्णीतं विद्वद्भिः। शास्त्रोक्तं तन्त्रागमस्य लक्षणं प्रस्तूयते—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥[9]

आगमलक्षणम्—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनं चापि सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तं विदुर्बुधाः॥[10]

तन्त्रलक्षणम्—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च मन्त्रनिर्णय एव च।
देवतानाञ्च संस्थानं तीर्थानाञ्चैव वर्णनम्॥
तथैवाश्रमधर्मश्च विप्रसंस्थानमेव च।
संख्यानञ्चैव भूतानां यन्त्राणाञ्चैव निर्णयः॥
उत्पत्तिर्बिबुधानाञ्च तरुणां कल्पसंज्ञितम्।
संस्थानं ज्योतिषाञ्चैव पुराणाख्यानमेव च॥
कोषस्य कथनञ्चैव व्रतानां परिभाषणम्।
शौचाशौचस्य चाख्यानं स्त्रीपुंसाञ्चैव लक्षणम्॥
स्वचक्रस्य चाख्यानं नरकाणाञ्च वर्णनम्।
राजधर्मो दानधर्मो युगधर्मस्तथैव च॥

व्यवहारः कथ्यते च तथा चाध्यात्मवर्णनम्।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तं तन्त्रमित्यभिधीयते॥[11]

इत्थं तन्त्रशास्त्रस्य फलं भोगोमोक्षश्चोभयमिति स्वात्मकल्याणमेव तल्लक्षणगतो निष्पद्यते।[12] एतद्विवेचनाधारेण स्फुटं वक्तुं शक्यते यद् आगमशास्त्राणां तन्त्रशास्त्राणां च परमं प्रयोजनमभ्युदय-निःश्रेयसिद्धिरेव।

सन्दर्भाः

1. *अजितागम*, खण्डः 1, भूमिका
2. *विष्णुसंहिता*, पटल - 7
3. *तत्त्ववैशारदी* 1/7
4. *विष्णुसंहिता*, पटल, 7
5. *सन्मार्ग*, आगम-विशेषांक, पृष्ठ 16
6. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी*, खण्ड- 2, पृ. 80
7. *महार्थमञ्जरी* - परिमल, पृष्ठ- 2
8. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतविमर्शिनी*, खण्ड- 3, पृ. 85
9. *सर्वोल्लासतन्त्र* 1/15
10. *वाचस्पत्यम्*, पृ. 618
11. *शब्दकल्पद्रुम* - तन्त्रशब्दस्य व्याखया
12. यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोगो, यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥ - *आनन्दलहरी* (*शक्ति उपासना अंक - कल्याण*)

शोधछात्रः,
वैदिकदर्शनविभागः,
बनारसहिन्दूविश्वविद्यालयः, काशी।

वेदागमयोस्सम्बन्धविचारः

दीपकपालीवालः

सहस्रशीर्षासहस्राक्षस्सहस्रपादादि विशेषणानां विशेष्यस्य परमपुरुषनारायणस्य तथा त्र्यम्बकपशुपति-महेश्वरादिविशेषणानां विशेष्यस्य देवाधिदेवशरणागतवत्सलस्य सदाशिवस्य कृपाप्रसादप्राप्त्यर्थं दुःखत्रय-निवारणार्थञ्च निगमागमौ प्रमुखौ मार्गौ स्तः। दुःखत्रयाणां निवृत्तिः दृष्टोपायेनापि सम्भवति परं सा ऐकान्तिकरूपेणैव भवति न तु आत्यन्तिकरूपेण। आत्यन्तिकरूपेण दुःखनिवृत्तिः निगमागमयोः आचरणेनैव भवति। यदा वेदागमयोः वार्ता प्रचलति तदा को श्रेष्ठः? कश्च पुरातनः? कीदृक् च तयोस्सम्बधः? तथा वेदागमयोर्मध्ये किमपि साम्यम् अस्ति न वा? एतादृशाः भावाः मानसपटले उद्भवन्ति।

तन्त्रागमानाम्मन्त्रशैली तथा च वेदसंहितानाम्मन्त्रशैली भिन्ना सत्यपि अभिन्ना वर्तते। तन्त्रशास्त्रतः वेदसंहितानाम् प्राचीनत्वं तु सर्वैः मन्यन्ते। कलौ युगेऽस्मिन् आगमग्रन्थानां सर्वाधिकप्रासङ्गिकताऽस्तीति आगमविदामभिमतम्। मतस्यास्य आधारः श्लोकोऽयमस्ति—

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः।[1]

यद्यपि वैदिकमार्गो सर्वश्रेयस्करो भवति तथापि मन्त्राणां तेषाम् प्रासङ्गिकार्थानाम्। लिङ्गविनियोगादीनां दुर्ज्ञेयत्वाच्च अपरमार्गस्य आवश्यकता प्रतीयते। तत्र अपरमार्गोऽस्ति तन्त्रशास्त्रम्। केचनतन्त्रशास्त्रस्यैव आगमनिगमभेदाविति आमनन्ति। यथा—

आगमो निगमश्चैव तन्त्रशास्त्रं द्विधा मतम्।[2]

केचन आगमं पञ्चमवेदत्वेन स्वीकुर्वन्ति—

आगमो पञ्चमो वेदः कौलस्तु पञ्चमाश्रमः।[3]

श्रीकण्ठाचार्याः वदन्ति—"**वयं तु वेदागमयोर्भेदं न पश्यामः**"।[4]

श्रीकण्ठाचार्यानुसारेण वेदागमयोर्मध्ये अभेदः सम्बन्धः। आगमः सप्तलक्षणसमन्वितो भवति—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथाऽर्चनम्।
साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।।

षट्कर्मसाधनश्चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तं त्वागमं तद्विदुर्बुधाः।[5]

आगमस्य सप्तलक्षणानि सन्ति। तद्यथा – 1 सृष्टिः 2 प्रलयः 3 देवतार्चनम् 4 सर्वसाधनम् 5 पुरश्चरणम् 6 षट्कर्मसाधनम् (शक्तिः, वशीकरणम्, स्तम्भनम्, विद्वेषणम् , उच्चाटनम् , मारणश्चेति) 7 ध्यानयोगश्च।

इदानीम् आगमस्य सप्तलक्षणानाम् आधारेण वेदागमयोरभेदत्वं साधयामः। आगमग्रन्थेषु यथा सृष्ट्युत्पत्तिविषयकं वर्णनम् उपलभ्यते तथैव वेदेष्वपि।

1. श्रुतिपरम्परायां सृष्टिवर्णनम्

ऋग्वेदस्य ऐतरेयोपनिषदि सृष्टिविषयकं वर्णनम् एवमस्ति। **आत्मा वा इदमेक एवाग्रासीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ईक्षतेमे लोकान्नु सृजा इति।।**[6] तथा च *ऋग्वेदसंहितायामपि* नैकासु ऋक्षु सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिलयाख्यानानि प्रतिपादितानि। तेषु प्रथममण्डलस्य *नासदीयसूक्तम्* विशिष्टं स्थानं भजते। सूक्तेऽस्मिन् सप्तमन्त्राः सन्ति। तेषु केचन उद्धरामः।

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योमा परो यत्।[7]
किमावरीहः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।।[8]
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पराः किं चनास।।[9]
तम आसीत तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

इत्थं सूक्तेऽस्मिन् सृष्टेः प्रागवस्था निरूपिता। वैदिकपरम्परायाः तथा च आगमग्रन्थानां सृष्टिविषयकाख्यानानि पर्याप्तं साम्यं भजते।

2. श्रुतिपरम्परायाम् प्रलयवर्णनम्

शतपथब्राह्मणे जलप्लावनाख्यानस्य वर्णनं लभ्यते येन जलप्रलयस्य अनुमानं प्रकल्प्यते।

मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकम्।[10]

इत्यतः प्रारभ्य **"स होवाच। अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वामा गिरौ सन्तम् उदकमन्तश्छैत्सीद्यावदुदकं समवायात्तावत्तावदेवान्वव-ससर्प तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमित्यौघो हताः सर्वाः प्रजाः निरूवाहाथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे।"**[11] इति कण्डिकापर्यन्तं जलप्लावनम् आख्यानमुपलभ्यते।

3. देवतार्चनम्

आगममार्गे प्रत्येकस्य देवस्य उपासनार्थम् पृथग्मार्गः प्रकल्पितः। यथा शाक्तागमः, वैष्णवागमः, सौरागमः, गाणपत्यागमः, स्कन्दागमः, शैवागमश्च। तन्त्रसंहितासु कस्यापि एकस्यैव देवस्य देव्याः वा अर्चनम् साधकस्य

कृते निर्दिष्टम्, सैव फलदायकश्च परं वेदेऽपि यज्ञानुष्ठानादौ प्रत्येकस्य देवस्य पृथक् – अर्चनाऽपि भवति तथा सामूहिकार्चनाऽपि अर्च्यते। कल्पग्रन्थेषु स्तुतियज्ञार्चनादयः परम्पराः महता विस्तरेण प्रपञ्चिताः *ऋक्संहितायाम्* देवस्तुतिः एवं कृतम् अस्ति।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः।[12]
वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्।[13]
उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि।[14]
गायति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे।।[15]

वेदेषु देवतानाम् आवाहनम्, प्रतिष्ठापनम्, सोमपानम्, स्तुत्यादयः विषयाः देवतानाम् अर्चनक्रमे गण्यन्ते।

4. श्रौतपरम्परायां सर्वसाधनम्

आगमश्रौतपरम्परायां सर्वसाधनमित्युक्ते सति इदम् अपेक्ष्यते यत् यानि कार्याणि चिकित्सारसायनविमानभौतिकशास्त्रादिभिः सम्भवन्ति वा असम्भवन्ति तेषां समेषां कार्याणां संपादनं वेदागमाभ्यां भवेताम्। उक्तञ्च—

प्रत्यक्षेणानुमित्या च यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।[16]

(सर्वसाधने चिकित्साविषयकोदाहरणम्)—

युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः। ऋभवो विष्ट्यक्रत।।[17]

मन्त्रेस्मिन् ऋभवः स्वकीयौ पितरौ पुनर्युवानौ कृतवन्तः। विमानविषयकोदाहरणम्—

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वनीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः।।[18]

न केवलं लौकिकविषयाणां अपि तु अलौकिकविषयाणानाम् अपि साधनं सर्वसाधनस्य विषयो भवति। स च श्रुतौ यत्र तत्र प्रसङ्गानुरोधेन विवेचितम्।

5. वेदेषु पुरश्चरणम्

तन्त्रागमशास्त्रेष्वेव पुरश्चरणम् आवश्यकं न वर्तते उत च वैदिकमार्गेऽपि पुरश्चरणम् एव सर्वार्थसाधकरूपेण प्रतितिष्ठति। उक्तञ्च—

" सिद्धा मन्त्रा विधिना ब्राह्मणस्य फलं यच्छन्ति विधिवत्प्रयुक्ताः"।[19]

अमुमेवाभिप्रायं श्रीसायणाचार्याः प्रमाणयन्ति। **"पुरश्चरणाद्यनुष्ठानेन सिद्धमन्त्रत्वात्यद्यत्फलम् उद्दिश्य मन्त्राः प्रयुज्यन्ते तत्तत्फलं तथैव संपद्यते इति"**[20] अनेन ज्ञायते यत् पुरश्चरणं विना वैदिकमार्गेऽपि कार्यसिद्धिर्न दृश्यते।

6. षट्कर्मसाधनं वेदेषु

षट्कर्मसाधनविषयो अत्यन्तव्यापकतया विराजते। अतस्संक्षेपेण उदाहरणानि पश्यामः। षट्कर्मसु कृत्या-प्रयोगोऽपि अन्यतमो भवति। कृत्या-अभिचारप्रयोगानन्तरं तस्याःमोक्षप्राप्त्यर्थं *ऋग्वेदे* तथा *अथर्ववेदे* मन्त्राः उपलभ्यन्ते। तद्यथा—

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः।
सारादेत्वप नुदाम एनाम्।।[21]
शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सारादेत्वप नुदाम एनाम्।।[22]
यां कल्पयन्ति नोऽरयः क्रूरां कृत्यां वधूमिव।
तां ब्रह्मणाप निर्णुद्मः प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु।।[23]
खट् फट् जहि महाकृत्ये विधूमाग्नि समप्रभे।
जहि शत्रूंस्त्रिशूतेन क्रुध्यस्व पिब शोणितम्।।[24]

कृतस्य कृत्यासदृशस्य अमोघतन्त्रस्यापि औषधं वर्तते वेदेषु अन्यतन्त्रप्रयोगाणां तु का कथा?

7. श्रुत्याचारे ध्यानयोगः

वेदवेदाङ्गेषु ध्यानयोगस्य विवेचनं सम्यक्प्रकारेण कृतम्। योगज्ञानं विना क्रतुरपि साध्यं न साधयति। उच्यते च—

"यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स घीनां योगमिन्वति।।[25]
सघा नो योग आभुवत् स राये सपुरंध्याम्। गमद्वाजेभिरा स नः।।[26]
योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये।"[27]

उपर्युक्तप्रमाणानि दृष्टवा वक्तुं शक्यते यत् ध्यानयोगस्य बीजान्यपि वेदेष्वेव अन्तर्निहितानि विराजन्ते।

आगमस्य सप्तलक्षणानि आधारभूतं मत्वा यत्परिणामः प्राप्तः तेन प्रमाणितो भवति यत् वेदागमयोस्सम्बन्धः साम्यम् एव प्रदर्शयति। एतादृशः न कश्चिद् विषयः यस्तन्त्रागमे दृश्यते, परं सः वेदे न भवेत्।इतोऽपि ये जप-ध्यान-अर्चाः तन्त्रशास्त्रीयविषयाः तेषां मूलं वेदेष्वेव दृश्यते। वेदागमयोः सम्बन्धः किञ्चित् – किञ्चित् प्रभिन्नताम् आधत्ते सति प्रधानरूपेण अभेदत्वम् एव द्योतयति इति दिक्।

सन्दर्भाः

1. *प्रपञ्चसारतन्त्रे*
2. *अज्ञातम्*

3. *आचार्यहारीत:*
4. *वेदान्तसूत्रम्* व्याख्या श्रीकण्ठी
5. *शब्दकल्पद्रुम:*, पृ. 165
6. *एतरेयोपनिषद्*, 1.1.1
7. *ऋग्वेदसंहिता* 10.129.1
8. *ऋग्वेदसंहिता* 10.129.2
9. *ऋग्वेदसंहिता* 10.129.3
10. *शतपथब्राह्मणम्*, 1.8.1.1
11. *शतपथब्राह्मणम्*, 1.8.1.6
12. *ऋग्वेदसंहिता* 9.1.1
13. *ऋग्वेदसंहिता* 1.2.1
14. *ऋग्वेदसंहिता* 1.1.7
15. *ऋग्वेदसंहिता* 1.10.1
16. *कृ. यजु. तैत्तिरीय संहिता उपोद्घात:*
17. *ऋग्वेदसंहिता* 1.20.4
18. *ऋग्वेदसंहिता* 1.116.3
19. *ऋग्विधानम्* अध्याय, 1.7
20. *सायणभाष्यम्*, ऋक् 1.20
21. *अथर्ववेद:*, 10.1.1
22. *अथर्ववेद:*, 10.1.2
23. *ऋक्परिशिष्टम्* 10-128 सूक्तस्यानन्तरम्
24. *ऋक्परिशिष्टम्* 10-128 सूक्तस्यानन्तरम्
25. *ऋग्वेदसंहिता* 1.18.7
26. *ऋग्वेदसंहिता* 1.5.3
27. *ऋग्वेदसंहिता* 1.30.7

शोधछात्र
जगद्गुरुरामानन्दाचार्यसंस्कृतविश्वविद्यालय:,
जयपुरम्
ग्राम-पोस्ट - वरुन्धनी चौराहा
तहसील-माण्डलगढ़
जिला-भीलवाड़ा राजस्थान
पिन-311604
दूरभाष : 9079719740

प्रत्यभिज्ञादर्शने षट्त्रिंशत्तत्त्वानि

भास्कररायः

अत्र प्रत्यभिज्ञादर्शने षट्त्रिंशत् तत्त्वानि स्वीकृतानि। परन्तु तेषां षट्त्रिंशत्संख्यकानां तत्त्वानां त्रिधा विभाग उपकल्पितः-आत्मतत्त्वम्, विद्यातत्त्वम्, शक्तितत्त्वं चेति। पुनश्च नरतत्त्वम्, शक्तितत्त्वम्, शिवतत्त्वम् इत्येवम्प्रकारेण विभागोऽपि दृश्यते।[1] मायातत्त्वतः पृथिवीतत्त्वपर्यन्तम् तत्त्वानि आत्मतत्त्वमित्युच्यते। तथा च, सदाशिवतत्त्वादारभ्य विद्यातत्त्वं यावत् तत्त्वानि विद्यातत्त्वमित्याहुः। एवञ्च, शिवतत्त्वं शक्तितत्त्वं चाहृत्य शक्तितत्त्वमित्युच्यते। तत्र आत्मतत्त्वमशुद्धम् आत्मनः पुरुषस्य वा भेदमयत्वात्। विद्यातत्त्वं च ततः किञ्चित् शुद्धं भेदाभेदमयत्त्वात्। शक्तितत्त्वस्य तु अभेदमयत्वात् तच्छुद्धमेवेति।

त्रिविधमपि तत्त्वं पुनः विभज्यते। तथा हि आत्मतत्त्वं सकल-प्रलयाकल-विज्ञानाकल- शुद्धभेदेन चतुर्विधम्। विद्यातत्त्वं च दशधा विभज्यते। तद्यथा — वर्णः, विन्दुः, अर्धचन्द्रः, निरोधिनी, नादः, नादान्तः, शक्तिः, व्यापिनी, समना, उन्मना चेति। एवंप्रकारेण शक्तितत्त्वमपि त्रिधा विभज्यते—इच्छाशक्तिः, ज्ञानशक्तिः, क्रियाशक्तिः चेति।

शिवतत्त्वम्

परमशिवःत्रिकमते षट्त्रिंशत्तत्त्वमयोऽयं विश्वः अखण्डबोधरूपेण परमशिवसंविदे अवस्थितः।[2] स्वतन्त्रः परमशिव एव स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।[3] तस्य द्विविधं रूपं - विश्वमयं विश्वात्मकं वा, विश्वोत्तीर्णं चेति। स शिवः सर्वाकृतिकः निराकृतिकश्चेति। तथा हि तस्य विश्वात्मकं रूपं सर्वाकृतिकम्, विश्वोत्तीर्णं च रूपं निराकृतिकम्। अधुनायं प्रश्न उदेति कथं तस्य उभयविधं रूपं सम्भवतीति। तत्रोच्यते आचार्यजयरथेन दर्पणे प्रतिविम्बितः घटो यथा अभिन्नरूपेण प्रकाशते तथैव अयं स्थावरजङ्गमात्मको विश्वः परमशिवतः भिन्नोऽपि तदिच्छावशात् तद्भित्तौ अभिन्नतयावभासते। तस्मादेव विश्वमयोऽपि स विश्वोत्तीर्णतामापद्यते। एवमेव विश्वत्तीर्णोऽपि स विश्वमयतामापद्यते।

स च परमशिवः प्रकाशविमर्शमयः। यः स्वयंप्रकाशमानः अन्यं प्रकाशयति स एव प्रकाशमयः। परमशिवोऽपि स्वयं प्रकाशमानः समग्रं विश्वं प्रकाशयति। तस्मात् स प्रकाशमयः। न केवलं तत्, अपि तु स विमर्शमयः। तथा हि विमर्शं व्यतिरिच्य प्रकाशो न सम्भवति। तेन विमर्श एव प्रकाशस्य धर्मः। एवं परमशिवः प्रकाशविमर्शमयः इति सिद्ध्यति। परमशिवः चिच्छक्तिप्रधानः। आचार्यजयरथमतेन चिन्मात्रस्वरूपः परमशिव एव विश्वः।

शक्तितत्त्वम्

विश्वः परमशिवेन समं एकीभूय शिवतत्त्वे न तिष्ठति। यया शक्त्या विश्वस्य तिरोधानं भवति सा निषेधव्यापाररूपता शक्तितत्त्वमिति कथ्यते। तस्मात् शिवशक्त्योः पौर्वापर्यतामनेके नानुमन्यन्ते। तेषां नये तयोः सामरस्यम् एकत्रस्फुरणं वा भवति। ये तावत्तयोः पौर्वापर्यं स्वीकुर्वन्ति तेषां मते शक्तितत्त्वम् आनन्दशक्तिप्रधाना। शिवस्य स्वातन्त्र्यमेव आनन्दशक्तिरित्युच्यते।[4] तेन अस्मिन् तत्त्वे आनन्दबोधः भवति। उच्यते यत् शिवतत्त्वस्य "अहम्" अत्रत्येन "अस्मि" इत्यनेन युज्यते। तेन एतत्तत्त्वास्थितप्रमातुः "अहमस्मि" इति बोधो जायते।

सदाशिवतत्त्वम्

इच्छाशक्तिप्रधानं सदाशिवतत्त्वम्। आचार्य-उत्पलदेवस्य मतानुसारं सदाशिवः निमेषान्तः।[5] प्रलीनदशानिमेषः। अहंतायाम् इदंतायाः प्रलीनावस्था निमेष इति। प्रलीनावस्था तु आन्तर्दशा। सा च आन्तर्दशा शिवत्वस्यैव। तस्य उद्रेके सदाशिवतत्त्वस्य स्फुरणं भवति।

आचार्य-अभिनवगुप्तस्य मतानुसारं सदाशिवतत्त्वं परमशिवस्य निमेषशक्तिः इति। संहारक्रमे सदाशिवतत्त्वतः जगतः प्रलयः भवति।

ईश्वरतत्त्वम्

ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम्। अत्र स्फुटीभूतेदंतायामाहंतायाः प्रक्षेपो भवति। तेन इदंतायाः प्राबल्यम्। आचार्यः उत्पलदेव आह ईश्वरो नाम बहिरुन्मेषः।[6] उन्मेषो हि इदंतायाः स्पुटत्वं बाह्यत्वं वा।[7] यथा शिवत्वस्य आन्तरदशाया आभासनं सदाशिवतत्त्वं तथैव तस्य ऐश्वर्यस्य परिस्फुरणे बहिर्रूपतायाः प्रकाश ईश्वरतत्त्वम्। अभिनवगुप्तस्यमते ईश्वरतत्त्वं परमशिवस्य उन्मेषशक्तिरिति।

शुद्धविद्यातत्त्वम्

तत्त्वमिदं क्रियाशक्तिप्रधानम्। सदाशिवेश्वरयोः स्वरूपे अभेदपरामर्श शुद्धविद्या।[8] अत्र अहंतेदंतयोः उभयोः समानं प्रधानान्यमस्ति। एकस्यामपरस्य प्रक्षेपो न भवति। तस्मात् आचार्य उत्पलदेव आह अहमिदंबुद्ध्योः सामानाधिकरण्यमेव सद्विद्या। किञ्च, तस्यैव मते परमेशरस्वातन्त्र्योपजीविनी विद्येश्वरशक्तिः सद्विद्येति।

मायातत्त्वम्

मायाविषये *तन्त्रालोके* उक्तं यत् माया शिवतः भिन्ना नेति। सा तु शिवस्यैव स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रम्। मायातः भेदस्य प्रतिभासो जायते। सा च माया एका, व्यापिनी, सूक्ष्मा, निष्कला, अनाद्यनन्ता, जगत्कारणा,

अशिवा, ईशानी, नित्या चेति। तिरोधानशक्तिः माया।[9] तिरोधानं नाम आवरणमिति, स्वरूपाप्रकाशनम्, मलः, अज्ञानमिति वा। सेयं माया वेद्यवेदकादि सर्वमावृणोति। तिरोधानशक्तिः माया मोहोऽप्युच्यते। मायैव जीवं चिन्मयशिवात् पृथक्करोति। सा जीवस्य स्वरूपं गोपयति। तेन जीवस्य अचिन्मयता प्रकाश्यते, जीवश्च सुषुप्त इव अवतिष्ठते। एतद्दशायां जीवस्य पूर्णज्ञानक्रिया तिरोहिता भवति।[10] त्रिकमते इयं माया विश्वसिद्धिहेतुः। अतः सा व्यापिनीत्युच्यते। अस्मात् मायातत्त्वात् मायाया पञ्च कञ्चुकानि आविर्भवन्ति। तानि यथा – कला, विद्या, रागः, कालः, नियतिः।

कलातत्त्वम्

अत्र सर्वकर्तृत्वं किञ्चित्कर्तृत्वे परिणमति। कलावस्तुतः शिवस्य कर्तृत्वप्रकाशिका शक्तिः। तदुक्तं *तन्त्रालोके* यत् शिवस्य कर्तृत्वप्रकाशिका शक्तिः संकुचिता भूत्वा जीवे यदा अवतिष्ठति तदा सा कलेत्युच्यते।

विद्या

किञ्चिज्ज्ञत्वमस्य लक्षणम्। किञ्चिज्ज्ञत्वशक्तिरेव विद्या। अशुद्धविद्येति तस्या अपरं अभिधानम्। तन्त्रालोके उक्तं कलाजाता किञ्चिज्ज्ञत्वदायिनी अशुद्धविद्या इति।

रागः

रागतत्त्वप्रभावादेव सर्वैः कृत्ये किञ्चिद्भोक्तृत्वे परिणतिं लभते। तेन जीवस्य विषयेषु आसक्तिर्भवति। किं बहुना, अशुचिभोगविषयेष्वपि जीवस्तदा अनुरक्तो भवति।

कालः

परमेश्वरस्य नित्यता शक्तिः सङ्कुचितो भूत्वा जन्ममरणकारणैः आत्मा बध्यते। तेन आत्मनः अनित्यत्व-प्रतीतिः।

नियतिः

परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यशक्तिः संकुचितो भूत्वा आत्मानं कृत्याकृत्यवशेन नियमयति।

पुरुषतत्त्वम्

ततः पुरुषतत्त्वम्। अत्र जीव एव पुरुषः। स च अणुः। आचार्य-अभिनवगुप्तस्य मते देहादिवेद्यवस्तुनि यः प्रमातृस्वरूपः, अवेद्यः, मायदिपञ्चकञ्चुकैः यस्य स्वरूपमावृतं स एव अणुः।

प्रकृतिः

ततश्च प्रकृतिः। सेयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था।[11] ततश्च त्रीणि अन्तःकरणानि उत्पद्यन्ते। तानि हि बुद्धिः, अहंकारः, मनश्चेति। तत्र ज्ञानलक्षणा बुद्धिः, अभिमानोऽहंकारः, संकल्पं एषणं च मनः।

ततश्च पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च तन्मात्राणि चोत्पद्यन्ते। तेभ्यो पञ्चतन्मात्रेभ्यो पञ्चमहाभूतानि उत्पद्यन्ते। एवं षट्त्रिंशत् तत्त्वानि प्रत्यभिज्ञादर्शने प्रतिपादितानि।

सन्दर्भाः

1. नरशक्तिशिवात्मकत्वेन त्रैविध्यम्। – *तन्त्रालोके*, नवमाह्निकम्।
2. इदं विश्वं....एकस्यां वा परस्यां पारमेश्वर्यां भैरवसंविदि अविभागेन बोधात्मकेन रूपेण आस्ते। 417
3. श्रीमत्परमशिवस्य पुनःविश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यमखिलाभेदेनैव स्फुरति। – *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्*, पृ.8
4. तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। – *तन्त्रसारः*, पृ.6
5. निमेषान्तःसदाशिवः। – *ईश्वरप्रत्यभिज्ञा*, 3.1.3
6. ईश्वरो वहिरुन्मेषः। – तत्रैव, पृ.193
7. विश्वस्य हि स्फुटत्वं वाह्यत्वमुन्मेषणम्। – तत्रैव, पृ.194
8. सदाशिवेश्वरोभयरूपस्य यःस्वरूपादभेदपरामर्शस्तद्विद्यानामतत्त्वमित्यर्थः। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञा*, पृ.197, पादटीका. 36
9. तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः। तत्रैव, 3.1.7
10. माया हि चिन्मयाद्भेदं शिवाद्विधदती पशोः।
    सुषुप्तामिवा धत्ते तत एव ह्यदृक्क्रियः। – *तन्त्रालोकः*, 9.175
11. तदेवं सत्त्वरजस्तमसां साम्यात्मकमक्षुब्धं रूपं प्रधानमित्युक्तम्। – *तन्त्रालोकः*, पृ.178

संस्कृत व्याख्याता,
निस्तारिणी कॉलेज,
पोस्ट-पुरुलिया
पिन-723101
पश्चिम बंगाल
फोन : 9958715581

Yoga: Ancient Indian Philosophy to Practical Life of Common Man[1]

Dr. Sushim Dubey[2]

ABSTRACT

Present article is divided into four sections.In the first section, "Yoga", its meaning and definitions, aim and objectives, Misconceptions about Yoga, True Nature of Yoga have been discussed. In the second section brief history and different schools of Yoga have been touched upon. In the third section, Yoga in Modern Days have been discussed and in last section, Yoga has been interpreted as 'integrated value & way of life' refining the human experience and existence, thereby, evolving civilization.

Key words: *Yoga, holistic health*

I

Yoga is an ancient art based on an extremely subtle science, that of body psyche and soul.

1.1 Meaning of the word:

- The word Yoga originates from the Sanskrit word "*Yuj*" ("to yoke") which means "union" or "integration",
- Another meaning is "*samādhi*"- A higher state of consciousness beyond mind reflecting the ultimate reality.

---

1 Views and thoughts presented in the article are of the author personal and author expresses his thanks and gratitude to all sources to prepare the research material.

2 Programme Officer, Indian Council of Philosophical Research (Under MHRD, Govt of India), New Delhi, www.icpr.in; sushimdubey@gmail.com

1.2 Some Definitions of Yoga:

In the thoughts of modern Indian thinkers we find yoga as a system of conscious evolution and self-perfection. Swami Vivekananda has defined the Yoga as, "It's a means of compressing one's evolution into a single life or a few months or even a few hours of one's bodily existence". Sri Aurobindo defines Yoga as Integral Yoga. He says “By Yoga,… meant a methodological effort towards self-perfection by the development of potentialities latent in the individual.” In the authoritative ancient text of Yoga i.e. *Yogasūtra* of Patañjali and *Śrīmad-Bhagavadgītā*, yoga has been defined as transcending the mind for self-realization or equanimity of mind[3]. Also, according to *ṚṣiPatañjali***,** “yoga is the cessation of modifications of *citta* (mind)”[4].Yoga is skill in action[5]. In another important text *Yoga-Vaśiṣṭha* yoga comes as “skilful method to calm down the mind”

1.3 Aim & Objectives of Yoga:

- To remove ignorance (*avidyā* or lack of awareness of reality) from life,
- Cessation of metal modification or disposition of mind,
- Awakening to real Self; state of *Kaivalya,*
- Elimination of kleśa (sufferings) - Ignorance (*avidyā*) – egoism – attachment- detachment – yearning desire to life – elimination of 5-afflictions from life[6],
- To enter into a state of highest consciousness that manifests in life as (*satya*) Truth, (*bodh*) pure consciousness, (*jñāna*) absolute knowledge, *ānanda* (bliss).

---

3 "Samatvam yoga ucyate"
4 “Yogaścittavṛttinirodhaḥ।“ - ***Yogasūtra*** –I.2
5 "Yogaḥ karmasukauśalam" - ***Śrīmadbhagavadgītā***
6 “Avidyāsmitārāgadveṣābhiniveśāḥpañcakleśāḥ” - ***Yogasūtra*** –II.3

1.4 Misconception about Yoga:

There are varieties of misconception associated with Yoga, they are as, Yoga is:

- Religion – dogma, belief , cult or –ism,
- Magic, trick , mysticism,
- Physical culture –aerobics and anaerobic,
- Mental concentration,
- Self-mortification, Self-torture.

But as we have seen earlier in various definitions describing the true nature of yoga is not so. It is a complete system or better a Science or a way of life. Yoga being a way of life can be applied irrespective of age, gender, profession, state, conditions, problems and sufferings. Yoga can be applied in any/every human endeavor –personal, professional, social, family and spiritual.

1.5 The True nature of Yoga:

We may sum up the true nature with these, as yoga is:

- Science and art of realizing The Absolute i.e. The Ultimate Reality or Supreme Consciousness,
- Holistic Living i.e. Physical, mental, emotional, intellectual, social and spiritual well-being,
- Science of Health, Harmony and Happiness i.e. ("HHH") and here, Health, Harmony and Happiness denotes:
  - Health (holistic health)- physical, emotional, mental, intellectual, social and spiritual wellbeing,
  - Harmony- Inner Harmony (body, mind and emotion) and outer harmony (social, professional),

- Bliss – beyond happiness or permanent state of happiness, which is the stage of supreme realization,

- In the modern times, yoga has been slogan for peace (inner):

NO YOGA, NO PEACE
KNOW YOGA, KNOW PEACE
NOW YOGA, NOW PEACE[7].

II

2.1 History of Yoga:

The tradition of yoga can be traced back as old as civilization is. In the ancient texts of *Haṭhyoga* like *HaṭhyogaPradīpikā* the tradition of yoga has been said to originating from the *Ādinātha*[8] i.e. Lord Śiva. Tantra school of yoga also affirms this as an eternal tradition. Some of the basic points regarding the history of the yoga are as follows:

- Origin of Yoga – India,
- The tradition is known as eternal tradition in India,
- Reference of Yoga in the oldest written scripture in Sanskrit- *Ṛgveda*, and *Yajurveda*[9]
- Originators of Yoga- Lord Śiva and Lord Kṛṣṇa[10],
- Codifier of Yoga system or *Yoga-Sūtra* is- Patañjali (500 BCE or more),
- Traditional Yoga systems as old as 2000 years old or more and still continuing in Modern India.

---

7 http://knowyogaknowpeace.org/

8 "Śrī ādināthāyanamo'stutasmaiyenopadiṣṭāhaṭhayogavidyā", ***Haṭhyoga Pradīpikā*, I.1**

9 *"YuñjatemanaSutayuñjatedhiyoviprāviprasyabṛhatovipaścitaḥ"* – ***Yajurveda*,XI.1-5**

10 "*Imaṁvivasvateyogaṁproktavānahamavyayam / Vivasvānmanavepr āhamanurakṣvākave 'bravīt / /*" - ***Śrīmadbhagavadgītā*, IV.1**

Teachings of Yoga were the part of the curriculum and practice in the *Gurukula* in ancient Indian Teaching System. *Prāṇāyāma* and other specific postures were included in performance of *Yajña*, *Swādhāyaya* and other purificatory practices in traditional Hindu culture. Oldest traces of Yoga related practice may be traced back to Indus valley civilization, where posture related seals are found. Yogic terminologies are also found in Vedas.

It is now established that full-fledged system of Yoga is found in the *Yogasūtra* of sage *Patañjali*. However, prior to this various other traces are found in other scriptures about *Hiraṇyagarbha Yoga Śāstra* etc. which may be of interest to the history and development of Yoga in India. Yoga, for the first time in systematic spiritual path was advocated by Swami Vivekānanda to the West, though, it has been made household practice at mass scale by Swami Ramdev and International UNESCO recognition only by hon'ble Prime Minister of India Shri NarendraModiji's leadership.

Yogic practices, meditation and *Samādhi* are esoteric practices and for the ages attracted the attention of foreign travelers, who vividly wrote in their biographies and traveler diary about various mendicants and *tapasvi* in India. Various other rulers, dynasty who came and conquer Indian subcontinent, some returned to their mainland and some got assimilated with indigenous culture with establishing their identities here, but under stream of spirituality and Yogic practice in mainland got unaffected by these upheavals and changes.

2.2 Schools of Yoga:

There are varieties of yoga traditions found in ancient to modern times. Some of the major schools of Yoga are *Haṭha* Yoga, *Bhakti* Yoga, *Raja* Yoga, *Jñāna* Yoga, *Karma* Yoga, *Kuṇḍalinī* Yoga, *Tantra* Yoga, Integral Yoga etc.:

- Physical – *Haṭha* Yoga,
- Emotional – *Bhakti* Yoga,
- Contemplative – *Raja* Yoga,

- Reasoning – *Jñāna* Yoga,
- Action /passion for works- *Karma* Yoga,
- Awakening inner potential – *Kuṇḍalinī* Yoga,
- Other schools- *Laya*, *Dhyāna*, *Mantra* yoga etc.

2.3 Why different Schools of Yoga:

Vivekānanda has said at one place as why there are so many path for realization? Because there are different kinds of people in the world, because there are different kinds of attitudes, there are different kinds of psycho-physical constituents, these enable them to pursue the path with matching their ability and potential. The above argument can be rephrased with following points –

- Yoga is search for the highest within, i.e. self-discovery, which is awakening human potential,
- Not all can follow the similar practices,
- Different schools of Yoga for different temperament of people,
- Every school of Yoga uses one or more than one layers of existence predominantly to reach the Ultimate.

2.4 Patañjali Aṣṭāṅga yoga:

ṚṣiPatañjali has defined yoga as *Aṣṭāṅga* or eight limbs Yoga. They are,

Yama, Niyama, Āsana, Prāṇāyāma, Pratyāhāra, Dhāraṇā, Dhyāna and *Samādhi*[11]:

- *Yama*: motivating, social behavior,
- *Niyama*: Restraining, Checking, Self-discipline,
- *Āsana:* Psycho-physical practices,
- *Prāṇāyāma*: Control of vital Air/energy,

11 *"Yamaniyamāsanaprāṇāyāmapratyāhāradhāraṇādhyānasamādhayo'ṣṭāvaṅgāni"* – ***Patañjali Yoga-Sūtra*,** II.29

- *Pratyāhāra*: bringing together (withdrawal of senses),
- *Dhāraṇā*: perseverance, steady continuance, Concentration,
- *Dhyāna*: Meditation,
- *Samādhi:* Self-realization.

III

3.1 Yoga in Modern Days:

Modern age is of science and technology. Here, yoga refers to the science of health, happiness and harmony. Yogic previews are widened up to the normal restorations of health, and using Yoga technique as therapeutic system up to the spiritual realizations. But Yoga has been much popular in modern days as the science and art of Holistic Living, which includes all.

Shri NarendraModiji, Honourable Prime Minister of India in his address during the opening of the 69th session of the General Assembly of United Nations presented the proposal for International acceptance of Yoga spoke as "Yoga is an invaluable gift from our ancient tradition. Yoga embodies unity of mind and body, thought and action ... a holistic approach [that] is valuable to our health and our well-being. Yoga is not just about exercise; it is a way to discover the sense of oneness with yourself, the world and the nature."[12]

People are attracting towards Yoga as a holistic health care system. Before analyzing this let first see the definition of "health". According to WHO, 'Health is a state of complete physical, mental and social well-being and not merely the absence of disease or infirmity'[13]. State of well-being can be at physical, mental, social and spiritual levels. The health of all peoples is fundamental to the attainment of peace. The extension to all peoples of the benefits of medical, psychological and related knowledge is essential to the fullest attainment of health[14]. It is obvious that a life style can be consider healthy when it gives maximum satisfaction and establishing all around harmony with forces that the govern life which in turn provides good physical and mental Health, Growth potential and Joy of living.

12 ref: http://www.un.org/en/events/yogaday/background.shtml
13 https://www.who.int/about/who-we-are/constitution
14 **Ibid.**

Holistic approach of health care includes the following points –

- Preventive health,
- Promotive health,
- Curative health,

Yoga as a health care system:

- Yoga, the basic aim is not therapy but incorporating yoga into lifestyle brings 'Health, Harmony and Happiness',
- But act as a potent preventive, pomotive and curative health care system in many of the psychosomatic and life-style oriented diseases,
- Yoga strives to provide better health in all aspects.

3.2 Five Principles of Healthy Life

There are Five Principles of Healthy life described in Ayurveda (Vedic science of Life) as:

- *Āhāra,*
- *Vihāra,*
- *Ācāra,*
- *Vicāra,*
- *Vyavahāra.*

Five things to maintain healthy functioning of body, viz.

- Inception,
- Digestion,
- Absorption,
- Circulation,
- Elimination,

Yogic Practices for holistic healthy living may be sum up as:

- *Yogāsana*: relax & tone the muscles; massages internal organs,
- *Prāṇāyāma*: Slows breathing & regulates flow of prāṇa,

- Meditation: Act to calm the mind & helps in emotional culture,
- *Kriyās*: eliminates the toxic materials from body,
- *Bandhas&Mudrās*: Re-circulates the energy, removes the block in the energy path,
- *Mitāhāra*: regulates both body & mind functions at gross and subtle level respectively.

IV

The Yoga is the best at once for Holistic modes of experiencing and expressing the way of life. Yoga perhaps can best be interpreted as Holistic modes of experiencing and expressions *viz*, aesthetical, spiritual, linguistic and historical etc.

Firstly, aesthetical, Yoga through its posture and poses presented in various architectural sculptures, monuments, idols etc. of which chief role model is *Natarāja* (one of the postures or Āsana, the pose and artwork is described in many ancient Sanskrit texts such as the *AnshumadbhedAgama* and *UttarakamikaAgama*, the dance or idol featured in all major Hindu temples of *Śaivism*). Secondly, Yoga, spiritually culminating in *Kaivalya* / *Samādhi* and richly represented in major religions of Asia, like Hinduism, Buddhism, Jainism, Sikhism etc. Thirdly, Yoga, linguistically spread across in scriptures and Sanskrit texts forming a glorious tradition of *Bhāṣya*, *Vṛttis*, (interpretations/commentaries). Fourth and finally, historically, Yoga may be ascribed to 'integrated value & way of life' refining the human experience and existence, thereby, evolving civilization.

Programme Officer,
Indian Council of Philosophical Research
Dharshan Bhavan, 36 Tughlakabad Institutional Area
M.B.Road, New-Delhi-110062
Mob. : 9818420102
7982689813

Lalita abides in the Heart

Dr. Chaman Lal Raina

'Hridaye Tu Lalita Devi'—'Lalita abides in the heart', says Brahma to Markandeya in the *Devikavacham*! Lalita is the Divine Mother, whose heart throbs for the life process. Lalita is the 'Mother of Synthesis' as defined in the sacred Grantha'*Lalitopakhyāna* an appendage to the *Brahmanda Purana*. Lalita is Durga, who is worshipped by the Shakti Upasakas as being the All universal source. She is all Mahabhava—the great and grand emotion, whose sweet face represents the 'Vagbhava' group of fifteen Mantrik syllables. She captures the secret heart-beat of delight, with her Eternal smile. She is the golden sight, who comes down into the heart of the devotee sitting the life-secret with Supreme eternity. The secret name lies in her Eternal attributes which reside in six lotuses in the form of 'Kundalini'. She is not different from the knowledge that brings 'Moksha' -liberation to the bonded soul or 'Jivātman'.

Higher emotion is the primal cause of existence, known as 'Bhavajna' or the creativity in evolution. Being the Supreme energy, She is meditated upon with the loving adoration. Her abode is the Shri Yantra, when adored as Shri Rajarajeshvari at the Shri Ragini - Devi Kundam. Her feet are the musical metere and the Vedic-Nirukhta is her Lovely face. The *Rigveda* is her seat. The *Yajurveda* and the *Samaveda* are her thighs. 'Nyaya' and 'Darshana' are the two breasts. The 'Shruti and Smriti' are the lips. The poetics is Her charming tongue. The Vedanta and other allied subjects are Her eternal eyes, which guides the 'Bhakta' - devotees through intuition and awareness; also with understanding of logic and insight. Her ecstasy is found in 'Gāyana, Vadana and Nritya'—song, music and dance, creating an atmosphere for

understanding the Shakti Tattva, for establishing the Mother-child relationship.

Lalita is always adored by the Ishvara, Sadashiva and a host of Devatas, within an orb of the Shaivistic thirty six Tattvas. Her very being is the Shaktopaya of the Trika Darshana. She is the Mother-Creatrix and the very self of 'Sat-Chit-Ananda' -truth-consciousness-bliss.

Lalita is the primal source of 'Para, Pashyanti and Madhyama', as defined in the scripture

s. She is the infinite 'Vaikhari', born from the silence of Eternity. This state of existence is Prakasha and Vimarsha. Her Divine flow is spontaneous. Ichha, Kriya and Jnana Shakti are Her Manifestations in the living heart. According to the Shakta school, there is only one Reality, where Transcendental, Absolute, Immutable, Ineffable Lalita is known as the *Prakasha-Mayi Vimarshini Shakti* - Supreme Effulgence, which contains in itself the seed of consciousness. When it vibrates to manifest of itself, a movement or Iccha takes place. This deliberation is known as 'Vimarsha' - reflection. The *Kamakala-Vilasa* says that Vimarasha is the reflection of the mirror of Prakasha. The Prakasha and Vimarsha are the Shiva and Shakti aspects of Shri Lalita.

She manifests through the 'MuIa-Trikona' known as *'Sarvasiddhi-prada Chakra'* of Lalitambika. The primary triangle is the eternal flame with the 'Tejas' of Surya -the solar energy, the coolness of 'Soma tattva' being the lunar effects and 'Agni' - physical fire for oblation, which is a living example of the Yantrik Puja. The triadic of 'tejas' are Her three eyes representing the Universal manifestation,which is present and visible in the various incarnation. She is verily, the Vidyavati - the physical, Meta-physical and transcendental knowledge of the *Trika-triadic* mysticism of the Shakti cult. Her charm, glory and silence is seen in the Primal 'Bindu', which is being meditated upon as the *'Trikhandā Mudrā*' by the Shodashi worshippers of Sri Lalita. It is related to the Ka-Adi Vidya of the Ashta Matrikas at Shri Chakreshvara. Perception and emotion make Lalita to abide in Shri Chakra

where the 'Mula-Bindu' is Her heart region. A compassion leans to embrace the physical constituents of 'Jivatman' to make the life cycle a complete one.

Ever gracious Lalita is visualized in the multiple faces of Universal consciousness. Her ways are mysterious, diverse and ever blooming. She is super brilliance, who upholds the mystery of the emotional play. She is fertile and her emotion is the cosmic union of Kameshvara and Kameshvari. She is Shiva and Shakti, possessed with the singular supreme love. She is the embodiment of whole, where every part and particle finds its abode in Her lovely looks. She is self and beyond that, who is meditated upon as the 'Svatantrya Shakti', as vizualized by Shiva the Supreme teacher of 'Ananda and Lasya -nritya' - the cosmic dance of eternity.No doubt,there is Tandava also for annihilating the Asuras. His dance makes the rhythm of Time in its movement, but Lalita transcends the cosmic whirl of Time and is hid in it, like a pearl in the sea. She is the Supreme Sovereign, with the authority of 'Chaitanya - consciousness of Being as the Supreme and Absolute authority. With her emotional appearance, she is the fountain head of the nectar of consciousness. Emotion is her primal vibration known as 'Spanda' - which is the source of all creation. She creates and sustains the world with her Love and then makes the world merge in the Higher ego. Filled with compassion, she is fashioned within the heart by Her intellect. Her presence is felt in the heart-cavern. Yogis meditate upon her to realize the infinite digit of immortality. Her song is auspicious with the inner tune of universal vibration.

The immutable phonemes begin with 'A and end with H' of the Vedic Varnamala. The great Divine Mother, Lalita is immutable in the form of 'Varnamala'—the garland of letters, woven by sound frequencies of ‘Hrisva, Dhirga and Pluta’. In this world of name and form, she continues the process of creation through 'Matrikas - the supernal 'Shabda-Brahman'. In the form of languages, she is known as Akshara, which never goes for any mutation. Each syllable is potent with her Divine attribute. As Lalita bears and sustains Primal seed in her womb, so all the 'Devas' and ‘Devis’ within 'Matrikas' are

the seed and syllable sounds.These abide in the Varnamala, forming the basis of all the 'Mantras' - seed syllables. The seed syllables are occult in nature. The *'Jnanarnava Tantra'* states that the sixteen vowels found in the 'Deva Vani' - Sanskrit are a form of Shakti, while the letters beginning with A--Adi and ending with-Ka +sha=ksha, being the forms of 'Shiva'. The consonants can not be articulated by themselves unless they are in consonance with the vowels. The emotion of Lalita is impregnated with the force of the 'Trayi-Vidya', made up of the letters of the three 'Kutas', which are adored with the three 'Hrims' or 'Lajja bija'. Hrim means that the' Vaikhari' has not come out fully in the open, there is some 'Sankocha' known as a shrinking. 'Hrim bija' is the evolutionary aspect of the Divine.

There are three Hrims in the Mantra, one at the end of each 'Kuta'. The three kutas are triadic in nature and represent the existence of triune - 'Paramatman, Jagat and Jivatman' - God, world and soul. The three kutas are 'Srimad-Vagbhava Kuta, Madhya Kuta and Shakti-Kuta', where Lalita is the presiding deity of the microcosm and macrocosm. 'Hrim Bija' enjoys the identical status of 'Pranava'. Hrim is ethereal existence, illumination and will. It stands for 'Nada-Bindu', 'Shabda-Brahman' or 'Akshara-Brahma'. It is the primal digit to evolve into Absolute, and to involve in the number. The adoration of the 'Hrim' leads to the ultimate destiny, where Tripurasundari-Lalita administers the bliss of realization. Hrim is a process of transformation of 'Jiva' into 'Deva' and 'Jiva' into 'jivanmukta'. All the attributes of Lalita are inherent in Hrim. A Yogi experiences bliss in terms of 'Ichha, Jnana and Kriya', working under the influence of Lalita, who abides in the 'Ashta-Siddhis' of the ' Vasu Kona' where all the perfections lead to one supreme goal of Lalita's love.

Lalita is all excitement, which lives in the' Samaya' school of Shakti Upasana, devoted to the conduct of the 'Samaya Achara', who presides over the 'Hum' seed syllable. She embodies the universe in Her golden womb. Her tune is the 'Vina' of Sarasvati, which brings harmony of rhythm and rhyme, power of speech and thought, idea and performance. Conception,

Right faith, Right intelligence and Perfection are Her names. She has one thousand attributes, which grants the perfect knowledge of immanence and transcendence. Lalita is beyond 'Varna and Ashrama', yet maintains the law of piety. Her 'Varna' is Supreme love and is easily approached by those, who have the unconditional faith in her Divine play. She is free from name and form, yet endowed with names and forms. She abides in the 'Dasha-Ara'- ten spokes of the cosmic wheel of 'Sri-Chakra.'

The Eternal knowledge, allied knowledge are her epithets, attributes and names. She is whole-compassion. She is ever charming, grand and utters the eternal sound 'AUM', which grants power to Brahma for creation, Vishnu for preservation and Rudra for annihilation to make the cosmic show a complete one. She is Eternal time, and consumes the serial time in her Lap.

She abides in every nerve and cell of Shiva, where she illumines the spirit of Shiva by accepting Him as Her Shakini nature,which is Devi's very Self. She is the embodiment of ‘Yakini, Hakini, Dakini, Rakini, Lakini, Kakini’ and ‘Sakini’ and Devis. love, emotion, excitement are her psychic energies.

She transcends action and inaction. She shines among the 'Kula' system and is worshiped through the 'Kadi' mantra, the first letter of this seed-syllable of the Pancadashi Mantra. Her expansion is vast, which maintains the harmony of the Triadic mysticism of 'Shiva-Shakti-Anu' and 'Mahakali, Mahalakshmi, Mahasarasvati'. Being the compassionate Mother, she bestows, grace to the 'Matrikas' -little mothers. Being Gayatri, as Mother of Vedas, she holds all scriptures in her Lap. Great substance is found in Her looks. She is the Cosmic breath of Yoga and Her manifestation is seen in the fourteen triangles of Sri-Yantra.

Her Eternal love is filled with her Eternal grace, which is without beginning or end. She is all beauty found in the Primal figure. Her seat is the primal triangle of Sri Yantra, and is revered with ' Yoni Mudra'. She manifests for the work of 'Devas', born from the altar of the fire of

consciousness. Her supramental consciousness is to save the world from 'Avidya' - ignorance. As saviour of the 'Devas' - divine forces, she assumes the characteristics of Para Shakti, where She makes the cosmic energies to concentrate in one unified energy. She assumes the form of 'Mahalakshmi' - Adya-shakti, and the 'Devas' adore her Feet with 'Laksha-Rasa', a red dye, known as 'Butea frodosa' and thus make the triple world - 'Bhu, Bhuva, Svaha' dance to her Tune. She takes 'Hari and Hara' in her lap to help in maintaining the balance between emotion and intellect. She is the Supreme intuition, which abides in the sixteen petaled lotus of Shri-chakra. Of course ,this is the triune of Jiva , Jagat and Janardana

She is the embodiment of 'Panchadasha-Akshri and Shodashi' Mantra and of 'Hadi -Vidya and Kadi Vidya'. She is occult, yet seen with devotion and from the original Throb which in its subtle form is Light. Her each mystic syllable evolves, with the rise of the moon in the' Shukla paksha' - lunar fortnight and is meditated upon on the 'Purnima' as the Moon is just a cosmic beauty of her Appearance. She is Universal seer, who imparts the sacred knowledge of 'Tripura Sundari' Mantra to reconstitute the perfect word or 'Akshara'. She therefore, resides in the Shodashi Mantra. Her grace is a flow and her face is deeply aglow with ambrosia. To bestow prosperity is one of her Functions and as Vaishnavi, Lalita abides in Vaibhava - wealth and final beatitude, closely related to Akshara-Brahma.

Lalita is the Supreme authority and discharges her Eternal function through Brahmi, Vaishnavi and Raudri Shakti. She abides in the form of 'Sahsra-Ara' - the thousand spokes of the mystic lotus. She is material existence of 'Nava-Dvipas' - nine continents and Sapta-Sindhus - seven oceans. She is the source light of the sun and her radiance is far exalted. The brilliance of thousands of solar galaxies can not excel her Triadic beauty.

Being 'Vagdevi', she is adored as 'Vamamayi Ambika'. She is the 'Mantra' and not different from it. This 'Rahasya' - secret knowledge is known as 'Tripura Sundari Karuna'- being the compassion of the Mother. Peace, Force, Light and Delight are constantly experienced in Her 'Mantra'.

The secret of great achievement is revealed only through the Grace of Lalita. Lalita is a source of inspiration and transformation, when aspired for such longings.

Auspiciousness, Beauty and Emotion are her Female characteristics, which are being appreciated in the 'Agamas'. She is also triple-footed with Triple knowledge and Triple image, who resides in the 'Tripura'- the city of triple image, according to the Panchastavi. She envelops the whole creation in the 'Muladhara' triangle, which is the affirmation of the essential spirit. 'Tripura-Sundari' is the spirit of 'Purna Yoga'. The three circles of Shri Chakra are the forms of mind, over-mind and supermind. Being ' Anadi' without - beginning in 'Svarupa' - primal form, there is no end to Her attributes, yet She abides in the Shri Yantra.

A nine-fold classification is adopted to comprehend the symbology of the Shri Yantra, where 'Tripura, Tripureshi, Tripura-Sundari, Tripura-Vasini, Tripura-Shri, Tripura-Malini, Tripura-Siddha, Tripura-Ambika and Maha-Ttripura-Sundari' are adored as the nine Presiding Devis. Lalita is one in all and All is one.

To bow to Shri Lalita, which abides in the heart region, is the keen desire of the devotees, who feel Her presence in every pulsation of life. She is splendidly graceful and incites primordial nature. She stands for the evolution of transmigrating jivas at the beginning of every new cycle of creation.

Fellow, Center of Spiritual Studies
& formerly Adjunct Professor
Florida International University
2 Kha 19 Shastri Nagar
Ajmer-305001
Tel. 0145-2621432